नागार्जुनकृत

मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी

यशदेव शल्य

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद

आधुनिक युग में देश और विदेश के अनेक विद्वान् बौद्ध दर्शन के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए हैं और परिणामतः प्रमुखतम बौद्ध दार्शनिकों में अग्रगण्य नागार्जुन पर भी बहुत-सा लेखन हुआ है। परन्तु जबकि अन्य सब लेखन सामान्य सैद्धान्तिक निर्वचन और व्याख्या के रूप में हुआ है श्री शल्य ने एक दार्शनिक की भूमि से नागार्जुन की दार्शनिक युक्तियों की परीक्षा की है।

श्री शल्य ने इस पुस्तक में नागार्जुन को निरपेक्ष अभाववादी के रूप में, उनके 'शून्य' को वास्तविक शून्य के रूप में ही देखा है और दिखाया है कि किस प्रकार कोई इसके साथ भी निराशावादी के बजाय धार्मिक हो सकता है। किन्तु उन्होंने शून्यवाद को एक दार्शनिक युक्ति के रूप में अग्राह्य ही पाया है। इस सबसे महत्त्वपूर्ण है उनके द्वारा नागार्जुन द्वारा उद्भावित विरोधाभासों के आधार में निहित प्रतिज्ञाओं को प्रकट कर उनकी परीक्षा और परिहार करना जो इस पुस्तक को अन्यों से सर्वथा भिन्न और महत्त्वपूर्ण बनाता है।

ISBN: 81-208-0703-0 Rs. 80

नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी

युक्ति-परीक्षा और सिद्धांत-विमर्श

नागार्जुनकृत

मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी

युक्ति-परीक्षा और सिद्धांत-विमर्श

यशदेव शल्य

भूमिका
गोविन्दचन्द्र पांडे

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड
के सहयोग से
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1990

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद
द्वारा यूएसम्रो हाउस, 6 स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
न्यू मेहरौली रोड, नई दिल्ली 110067 से प्रकाशित

अन्य प्राप्ति स्थान :
मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली 110007
चौक, वाराणसी 211001
अशोक राजपथ, पटना 800004
24 रेसकोर्स रोड, बंगलौर 560001
120 रॉयपेटा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास 600004

ISBN : 81-208-0703-0

मुद्रक :
नागरी प्रिंटर्स
पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

विषय–सूची

प्राक्कथन	7
भूमिका	11
1. मध्यमकशास्त्र	23
प्रस्तावना	23
प्रकरण	
1. प्रत्यय-परीक्षा	29
2. गतागत-परीक्षा	42
3. चक्षुरादीन्द्रिय-परीक्षा	46
4. स्कन्ध-परीक्षा	49
7. संस्कृत-परीक्षा	51
9. पूर्व-परीक्षा	58
10. अग्नीन्धन-परीक्षा	60
11. पूर्वापर कोटि-परीक्षा	66
13. संस्कार-परीक्षा	68
14. संसर्ग-परीक्षा	69
15. स्वभाव-परीक्षा	72
16. बन्ध-मोक्ष-परीक्षा	73
17. कर्म-फल-परीक्षा	81
19. काल-परीक्षा	83
21. संभव-विभव-परीक्षा	85
22. तथागत-परीक्षा	87
25. निर्वाण-परीक्षा	92
शून्यता के स्वरूप पर सामान्य टिप्पणी	95
2. विग्रह-व्यावर्तनी	99
3. शून्यता के अर्थविषयक कुछ अन्य मतों पर विचार	106
4. प्रपंच, प्रपंचाभाव और प्रपंचातीत	116

प्राक्कथन

नागार्जुन पर इस शताब्दी में देश और विदेश में बहुत से ग्रंथ और लेख प्रकाशित हुए हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल में उनके मध्यमक शास्त्र तथा अन्य ग्रंथों पर कई टीकाएं लिखी गईं जिनमें से हमने केवल एक : चन्द्रकीर्तिकृत : का उपयोग यहां नागार्जुन की युक्तियों की परीक्षा में किया है। अन्य टीकाकारों की हमने उपेक्षा की है। टीकाकारों का उद्देश्य स्वभावत: युक्तियों की परीक्षा करना नहीं होकर कारिकाओं के तात्पर्य का विशदीकरण करना ही था, आधुनिक व्याख्याकारों ने उनके दार्शनिक प्रतिपाद्य : शून्यवाद : के निर्वचन का प्रयत्न किया है। इन दूसरे वर्ग के अध्येताओं का उद्देश्य उनकी युक्ति-परीक्षा था ही नहीं : उन्होंने अपने प्रयोजन के अनुसार कारिकाएँ उद्धृत कर शून्यता का निर्वचन कर दिया। इस पर कुछ विचार हमने इस पुस्तक के तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में किया है। कुछ प्राचीन विरुद्ध मतावलंबी दार्शनिकों ने उनकी युक्ति-विधि तथा सिद्धान्त का प्रतिवाद भी किया है किन्तु उन्होंने भी उन्हें केवल वैतंडिक या सर्वनिषेधवादी आदि निंदात्मक नाम मात्र देकर संतोष कर लिया है और उन पर विचार करना, उनकी युक्तियों की परीक्षा करना, अनावश्यक माना है। यहां इनके प्रतिनिधि रूप में आचार्य शंकर के **ब्रह्मसूत्रभाष्य** से उद्धरण देना स्थाने होगा। उन्होंने इस भाष्य के दूसरे अध्याय में अनेक वैदिक-अवैदिक दर्शन-संप्रदायों पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया है और उनके प्रतिपादनों के विरुद्ध युक्तियां दी हैं, किंतु नागार्जुन के सम्बंध में उन्होंने केवल इतना कहना ही पर्याप्त समझा कि "शून्यवादी पक्ष तो सर्व प्रमाण-विरुद्ध है, इससे वह निराकरण करने के भी योग्य नहीं है। सर्व प्रमाणसिद्ध इस लोक-व्यवहार का कोई भिन्न तत्त्व स्वीकार किये बिना निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।"[1] (अर्थात् जो दीखता है वह असत् नहीं है, ऐसे उत्सर्ग के कारण प्रपंच शून्य नहीं है, क्योंकि बाध का अभाव है।) इस प्रकार नागार्जुन ने अपने मत के प्रतिपादन में जो युक्तियां दी हैं उनकी समुचित परीक्षा तो दूर साधारण परीक्षा भी नहीं की गई जबकि उनकी प्रतिपादन-शैली की विलक्षणता ही उसकी नितांत युक्तिपरकता में है। उनका दार्शनिक प्रतिपाद्य यह है कि "सब कुछ, जो कुछ भी है, शून्य, रिक्त, निस्स्वभाव है," और यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने विभिन्न वस्तुओं अथवा वस्तुस्थितियों को उदाहरण स्वरूप चुन कर उनके स्वभाव के सम्बंध में पूर्वपक्ष

1. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, 2.2.6.31.

की उद्भावना की है और तब दिखाया है कि किस प्रकार उस स्वभाव के सम्बंध में भावात्मक, अभावात्मक, उभयात्मक या अनुभयात्मक कोई भी प्रतिज्ञा स्वीकार्य नहीं हो सकती। इस युक्ति-विधि के प्रयोग का कोई दूसरा उदाहरण हमारे देश के दार्शनिक इतिहास में नहीं मिलता, यद्यपि इसके बीज महात्मा बुद्ध के प्रतिपादनों में देखे जा सकते हैं। किंतु इस विधि का प्रयोग प्राचीन ग्रीस और आधुनिक पश्चिम में क्रमश: प्लेटो और कांट में अत्यंत विकसित रूप में मिलता है। किंतु नागार्जुन के विपरीत उनमें यह विधि उनके दर्शन का सर्वस्व नहीं होकर उनमें केवल अंशभूत है। इसका कारण इनके दार्शनिक उद्देश्यों का भिन्न होना है। इस सम्बंध में कुछ विचार हमने इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में किया है। नागार्जुन की ये युक्तियां बहुत सूक्ष्म हैं, जैसा कि प्लेटो और कांट की भी हैं, किंतु नागार्जुन का दार्शनिक सिद्धांत दुरवधार्य है जो कि इन दो दार्शनिकों और हेगल का नहीं है, क्योंकि नितांत शून्यवाद-नास्तिक्यवाद कोई सरलतया गम्य अवधारणा नहीं है, शंकर के समान कुछ इसे अनवधार्य भी कह सकते हैं। वास्तव में नागार्जुन के सिद्धांत की दुरवधार्यता के कारण ही उनके आधुनिक व्याख्याकारों ने उनके शून्यवाद को सर्वनिषेधवाद के रूप में स्वीकार नहीं कर उसे अद्वय परमार्थवाद (अब्सोल्यूटिज़्म) कहा है। इन सबके विपरीत हमने अपने इस निबंध में नागार्जुन के 27 में से 17 प्रकरणों की युक्तियों की और **विग्रह व्यावर्तनी** की मुख्य युक्ति : कि यदि सब शून्य है तो शून्यता-प्रतिपादक आपकी प्रतिज्ञा भी शून्य होगी और परिणामतः यह शून्य प्रतिज्ञा कुछ भी प्रतिपादित करने में असमर्थ रहेगी : की परीक्षा की है और पाया है कि उनकी शून्यता निरपेक्ष अभाव की ही वाचक है। किंतु हमारा उद्देश्य इस निबंध में केवल यही सिद्ध करना नहीं है बल्कि उनकी युक्तियों की युक्तता की इस सिद्धांत से स्वतंत्र परीक्षा करना भी है। इस परीक्षा के लिए हमने उनकी युक्तियों को यथासंभव स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया है। इस प्रकार प्रस्तुतीकरण और आलोचना से उनकी युक्तियों को समझने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह यह पुस्तक नागार्जुन पर, और वास्तव में किसी भी भारतीय दार्शनिक पर, आधुनिक युग में लिखी गई अपने ढंग की पहली पुस्तक है। इसमें हमने एक और बात की है: हमने नागार्जन की युक्तियों को उनके ऐतिहासिक संदर्भ से हटा कर उनके सार्वभौम-सार्वकालिक तत्त्व को ही अपनी परीक्षा का विषय बनाया है। किसी जीवित दर्शन का अध्ययन इसी प्रकार करना उचित है और हमारी सुदीर्घ परंपरा में यह इसी प्रकार होता रहा है। ऐतिहासिक संदर्भ की कारण-कार्य शृंखलाएं खोजना इतिहासकारों का कार्य है और वह उपयोगी भी है; उसका विषय प्राचीन ही नहीं, समकालीन दार्शनिक को भी बनाया जा सकता है। किंतु कोई भी सृजनात्मक विचारक अपने को कारण-कार्यात्मक शव-परीक्षा का विषय बनाने को

तैयार नहीं हो सकता और न वैसा करना, इस प्रकार की परीक्षा की सीमाओं का ध्यान रखे बिना, उचित ही होता है। पाश्चात्य अध्येताओं ने भारतीय दार्शनिकों को केवल इसी रूप में देखा और उन्हें इंडोलोजी (भारती विद्या) का विषय माना, यह बात तो समझ में आती है, किंतु हम भी इन दार्शनिकों को अतीत, काल-कवलित, ऐतिहासिक अध्ययन के विषय, अवरुद्ध और विनष्ट परम्परा की कड़ियां मानें इसका कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। पश्चिम ने कभी ग्रीक दार्शनिकों और पिछले पाश्चात्य दार्शनिकों को मात्र इतिहास का विषय नहीं माना—सिवाय मध्यकालीन इसाई दार्शनिकों के जिन्हें वे अपनी परम्परा की पहली कड़ियों के रूप में नहीं देखते। विडंबना यह है कि हमारे यहां आज केवल वे ही आधुनिक दार्शनिक माने जाते हैं जो आधुनिक पश्चिम की परंपरा में लिख रहे हैं। विशेषण-रहित आधुनिक दर्शन पद का अर्थ हमारे देश में "आधुनिक पाश्चात्य दर्शन" ही लिया जाता है, जो इस कारण उचित भी है क्योंकि हमारे इन दार्शनिकों के कृतित्व का, यदि इसे कृतित्व कहा जा सके तो, प्रमाण वही दर्शन है। हमने प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्ययन के सम्बंध में यह परम्परा तोड़ी है। अन्यत्र कुछ प्रसंगों में हमने सांख्य और वेदांत को भी सार्वकालिक दार्शनिक परम्पराओं के रूप में लेते हुए उन पर चर्चा की है। किंतु इस प्रकार की चर्चा की एक क्षीण परम्परा सौभाग्यवश हमारे देश में अनवच्छिन्न है। अकादमिक संस्थाओं, अथवा कहें राजनीतिक शक्ति-केन्द्रों से बाहर तो भारतीय दार्शनिक परंपरा से सम्बंधित बहुत से विचारक हैं किंतु इन शक्ति-केन्द्रों द्वारा स्वीकृत भी विचारकों की एक अटूट श्रृंखला विद्यमान है, जिनमें श्री अरविंद, कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, डा० भगवानदास और प्रोफेसर गोविन्दचंद्र पांडे[2] के नाम उल्लेखनीय हैं। किंतु नागार्जुन की युक्तियों की हमारी परीक्षा संभवतः भारतीय दर्शन-विषयक आधुनिक लेखन में एक सर्वथा नया प्रयत्न है।

नागार्जुन की युक्तियों की हमारी परीक्षा खंडनात्मक है। हम उनके दार्शनिक सिद्धांत शून्यवाद को भी स्वीकार नहीं कर सके हैं। दर्शन में खंडनात्मक लेखन को एक अनुचित और अनुपयोगी कार्य कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी तर्क के विरुद्ध प्रति-तर्क हो सकता है और किसी भी सिद्धांत अथवा विश्वदृष्टि के समानांतर एक दूसरी विश्वदृष्टि प्रस्तुत की जा सकती है। इसलिए किसी दूसरे दार्शनिक पर लिखना तभी उपयोगी कहा जा सकता है यदि उसकी दृष्टि में सहभाग लेते हुए उसे और अधिक गहराई और विस्तार दिया जाना हो अथवा उसकी युक्तियों में रह गई दरारों को पूरा किया जाना हो। यह सही है। हमने स्वयं कुछ

2. पांडेजी के कुछ लेखों के अतिरिक्त उनकी पुस्तक मूल्यमीमांसा और मीनिंग एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिकों या दार्शनिक सिद्धांतों पर इसी प्रकार लिखा है। किंतु नागार्जुन ने अनुभव और तर्क सभी की आधार-भूमियों को ही अप्रतिष्ठित कर दिया है। यह स्वयं दार्शनिक विचार को चुनौती है। वास्तव में यह संदेहवाद से भी अधिक विस्थापक दार्शनिक कृत्य है। इसका उपयोग और महत्त्व ही इस बात में है कि इसका निवारण किया जाय, जिसके लिए विचार को और अधिक गहराई में ले जाना आवश्यक होता है। शंकर ने नागार्जुन की युक्ति और सिद्धांत को असंभव कहकर छोड़ दिया है। असंभव यह निश्चय ही है, किंतु दर्शन असंभव को असंभव मात्र कह कर नहीं छोड़ सकता। और इस प्रकार नहीं छोड़कर उसकी चुनौती स्वीकार करना, यही उस दार्शनिक के कृत्य के औचित्य की स्वीकृति और उस दार्शनिक का अभिशंसन है।

अंत में मैं अपने कुछ मित्रों के प्रति और भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के अधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करना चाहूंगा : सर्वप्रथम मेरा आभार मेरे अभिन्न सुहृत् प्रोफेसर गोविन्दचंद्र जी पांडे के प्रति है जिन्होंने इस पुस्तक का विषय-प्रवेश लिखने का मेरा अनुरोध सहज ही स्वीकार कर लिया। उनके व्यापक और गंभीर पांडित्य से सब परिचित ही हैं, इस प्रकार इस विषय-प्रवेश में नागार्जुन के दर्शन के ऐतिहासिक संदर्भ की व्याख्या से इस पुस्तक का मूल्य कितना बढ़ गया है यह बताना केवल स्पष्ट की आवृत्ति करना ही होगा।

प्रोफेसर दयाकृष्ण, प्रोफेसर नारायण शास्त्री द्राविड़ तथा डा० हर्षनारायण के प्रति भी मैं बहुत आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि देखकर अपनी प्रतिक्रियाओं से मुझे अवगत कराया। यद्यपि उन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप मुझे अपने विचार में कोई परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ किंतु दो-एक स्थलों पर स्पष्टीकरण में कुछ जोड़ना अवश्य उपयुक्त प्रतीत हुआ।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने इसके टंकण और आवश्यक पुस्तक-क्रय के लिए मुझे यथापेक्षित आर्थिक अनुदान देकर मेरा कार्य सरल बनाया इसके लिए मेरा उन्हें शतवार धन्यवाद है, और उससे अधिक धन्यवाद इसे प्रकाशनार्थ स्वीकार करने के लिए है।

यशदेव शल्य

4 जून 1988
पी-51, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड़ जयपुर 302015

भूमिका

नागार्जुन और उनका युग

किसी ऐतिहासिक महापुरुष अथवा महान् विचारक को उसके युग से अलग कर पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। पुरुष और समाज वैसे ही सम्पृक्त हैं जैसे जीव और पर्यावरण। यह सही है कि मानव-बुद्धि सनातन और सार्वभौम आदर्शों को खोजती है पर उसके व्यक्त प्रश्न, विचार-पद्धति और भाषा-प्रयोग, अभ्युपगत तथ्य और मूल्य युग-निरपेक्ष नहीं रहते एवं फलतः उसकी स्वतंत्र वास्तविक उपलब्धि सीमित ही रहती है और उसके चारों तरफ अतीत का व्यूह बंधा रहता है। इतिहास के द्वारा इस व्यूह-भेदन के पश्चात् ही अतीत के विचारकों से जीवन्त संवाद सम्भव है। इसीलिए 'चिरन्तन' प्रश्नों पर बार-बार विचार करना पड़ता है और इसीलिए न तो दर्शन अपने इतिहास को भुला सकता है न इतिहास मात्र से सन्तुष्ट हो सकता है। आर्य मंजुश्री कल्प की भविष्यवाणी के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के चार सौ वर्ष व्यतीत होने पर नाग नाम के भिक्षु का आविर्भाव दक्षिणापथ में होगा। इसी प्रकार की भविष्यवाणी आर्य द्वादश सहस्रमहामेघ में भी मिलती है। तिब्बती इतिहासकार बुदोन के द्वारा संरक्षित परंपरा के अनुसार भी यही आविर्भाव-काल पुष्ट होता है। लामा तारानाथ के अनुसार बुद्धाब्द के पहले पाँच सौ वर्ष धर्म के उत्थान के और दूसरे पांच सौ वर्ष उसके ह्रास के थे और नागार्जुन इन युगों की सन्धि में हुए थे। दूसरी ओर कुमारजीव द्वारा चीनी में अनूदित नागार्जुन की जीवनी और उस पर आधारित चीनी परम्परा के अनुसार नागार्जुन का समय दूसरी शताब्दी अथवा तीसरी शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है। प्रो० उई नागार्जुन को दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, विंटरनित्स दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, लामोत तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रखते हैं। इस प्रकार जहां सूत्रों पर आधारित तिब्बती परम्परा के आधार पर नागार्जुन को ई० पू० पहली शताब्दी से ई० पहली शताब्दी में रखा जा सकता है, चीनी परम्परा उनका समय ई० दूसरी शताब्दी-तीसरी शताब्दी सूचित करती है। वस्तुतः ई० पू० दूसरी एवं पहली शताब्दियों में सम्भवतः प्रज्ञापारमिता-साहित्य का विकास हुआ था और चूंकि नागार्जुन को इस सूत्र-साहित्य का उद्धारक एवं प्रचारक माना जाता है अतः उनके काल को इस सूत्र-काल से शायद मिला दिया गया है। नागार्जुन प्रज्ञा-साहित्य के परवर्ती हैं एवं सर्वास्तिवादी अभिधर्म के भी। वे अश्वघोष के आसन्न हैं। एक चीनी बिवरण के अनुसार निर्वाण की चतुर्थ शती में कात्यायन ने ज्ञानप्रस्थान की रचना की, उसके खंडन के लिए अश्वघोष का आबिर्भाव हुआ, पांचबीं शती का

अन्त होने पर 500 अर्हतों ने कि-पिन में **ज्ञानप्रस्थान** या **विभाषा** की रचना की। इसी समय 'वैभाषिक' अभिधर्म के खंडन के लिए नागार्जुन का आविर्भाव हुआ। **विभाषा** की रचना कनिष्क कालीन चतुर्थ बौद्ध संगीति के अवसर पर हुई, ऐसा प्रायः माना जाता है। अश्वघोष की भी कनिष्ककालीनता प्रसिद्ध है। कनिष्क का काल अवश्य अनिश्चित है किन्तु अधिकांश पुराने भारतीय इतिहासकार उसे शक-काल का प्रवर्तक मानते हैं अतः प्रथम शती के अन्तिम चरण में रखते हैं। यह भी स्मरणीय है कि कुछ चीनी विवरणों में नागार्जुन को एक सातवाहन राजा का मित्र बताया गया है जिसकी निश्चित पहचान दुष्कर है। किन्तु यह प्रसिद्धि है कि इसी राजा के लिए उन्होंने **सुहृल्लेख** लिखा था। यह स्मरणीय है कि नागार्जुन को सुदीर्घजीवी कहा गया है और यह सम्भव है कि वे ई० प्रथम शती के उत्तरार्द्ध एवं द्वितीय शती के पूर्वार्द्ध में रहे हों।

नागार्जुन का युग सातवाहन-शक-कुषाण युग था जो कि ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी के आरम्भ तक विस्तृत था और जो प्रथम मगध साम्राज्य के अन्त से लेकर द्वितीय मगध साम्राज्य के आविर्भाव के कुछ पहले तक का संक्रान्ति एवं परिवर्तन का युग था। इस युग में विदेशी आक्रमण, राज्य-विप्लव एवं नवीन राज्यों की स्थापना से व्यापक परिवर्तन घटे। मध्य एशियाई जातियों का भारतीयकरण हुआ और भारतीय धर्म एवं संस्कृति का मध्य एशिया में प्रसार हुआ। दक्षिणापथ में सामुद्रिक व्यापार से पौर-समृद्धि के साथ साहित्य, विज्ञान एवं कला को विशेष प्रोत्साहन मिला। शूद्रक, हाल एवं गुणाढ्य, अश्वघोष, चरक, भरत एवं वात्स्यायन इसी युग की विभूतियां थीं। विज्ञान के बल से अपूर्व सिद्धियों की सम्भावना जन-कल्पना को आन्दोलित करती थी जिसका निदर्शन **बृहत्कथा** में मिलता है। स्वदेशी और विदेशी विजेताओं के सैनिक घुड़सवारों की टापें, व्यापारियों और शिल्पियों के क़ाफ़िलों की घंटियां, धर्म-प्रचारक भिक्षु-समुदायों का मंगल-स्वर उत्तरापथ और दक्षिणापथ में सर्वत्र गूंजता था। प्राचीन राज्य-व्यवस्था के साथ ही समाज-व्यवस्था क्षत-विक्षत थी और मनु आदि स्मृतिकारों ने संकीर्ण जाति एवं आपद्धर्म की कल्पना के सहारे उसके जीर्णोद्धार का प्रयत्न किया। पुरानी अमूर्त निषेधपरक आध्यात्मिकता नयी जातियों में धर्म-प्रचार के लिए अनुपयुक्त थी। उसके लिए आवश्यकता थी एक चमत्कारी, भक्ति-प्रधान मानवीय धर्म की। इसी आवश्यकता ने भागवत् और पाशुपत-शैव सम्प्रदायों के साथ-साथ महायान के विकास को सहायता पहुँचाई। इसी के परिणामस्वरूप दार्शनिक स्तर पर वैदिक और आगमिक दृष्टियों का एवं बौद्ध धर्म के अन्दर हीनयान एवं महायान का संघर्ष समझना चाहिए। प्रज्ञापारमिता सूत्रों के आधार पर माहायानिक दृष्टि और अनुभूति के मूल व्याख्याकार थे नागार्जुन।

कुमारजीव के अनुसार नागार्जुन दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। ऐन्द्रजालिक सिद्धियों के प्रयोग में दुःख पाकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर पहले हीनयानी आगम का अध्ययन किया। हिमालय में उनका महायान सूत्रों से परिचय हुआ और उन्होंने अनेक शास्त्रार्थों में विजय पायी। इस प्रसंग में उन्हें लगा कि बौद्धों में तर्कशास्त्र का पर्याप्त परिशीलन नहीं था और इसलिए उन्होंने एक अपनी नवीन परम्परा का प्रवर्तन किया। महानाग बोधिसत्त्व ने दया कर उन्हें **वैपुल्य सूत्रों** से परिचित कराया जिससे उन्हें अनुत्पत्तिक धर्म-शान्ति का लाभ हुआ। उन्होंने दक्षिण भारत में निवास किया, अनेक ग्रन्थ रचे और महायान का प्रचार किया। उनके निधन के सौ वर्ष पश्चात्, जबकि यह जीवनी सम्भवतः लिखी गयी थी, नागार्जुन की दक्षिण में बुद्ध के समान पूजा होती थी।

श्वांच्वांग और बुदोन के विवरण से पता चलता है कि नागार्जुन ने नालन्दा में प्रसिद्धि प्राप्त की और श्री पर्वत पर नागार्जुनिकोंड में सातवाहन राजा के सौजन्य से निर्मित संघाराम में निवास किया। अनुश्रुति के अनुसार नागार्जुन का अन्त सातवाहन कुमार की प्रेरणा से एवं उनकी अपनी अनुमति से हत्या के कारण हुआ। उनके जीवन की चर्या प्रसिद्ध है। इसीलिए सम्भवतः जहां कल्हण ने उन्हें हुष्क, जुष्क और कनिष्क का समकालीन बताया है, बाण ने उन्हें त्रि-समुद्राधिपति सातवाहन का मित्र बताया है। जो रचनाएं नागार्जुन की प्रायः निश्चित रूप से कही जा सकती हैं वे हैं **माध्यमिक कारिकाएं**, **विग्रहव्यावर्तनी**, **युक्तिषष्टिका**, **शून्यतासप्तति**, **रत्नावली**, **चतुःस्तव**, **सुहल्लेख**, **प्रतीत्यसमुत्पादहृदय** एवं **व्यवहारसिद्धि**। चीनी परम्परा में नागार्जुन को **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र** नाम के विपुलकाय ग्रन्थ का भी रचयिता माना जाता है। प्रो० लामोत ने इसे अप्रामाणिक ठहराया है जब कि प्रो० रमणन् इसकी प्रामाणिकता के समर्थक हैं। तिब्बती परम्परा में इस ग्रन्थ का अनुल्लेख उसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करता है यद्यपि यह असम्भव नहीं है कि योगाचार-विज्ञानवाद के विकास ने इस ग्रंथ को भुला दिया हो। अभिधर्म के माहायानिक प्रतिरूप को विकसित करने का श्रेय योगाचार-विज्ञानवाद को जाने पर माध्यमिक विचारक तार्किक प्रसंगों में ही सीमित रह गए प्रतीत होते हैं। यदि ऐसा हो तो **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र** का भारत में लोप और तिब्बत में अनुल्लेख संगत हो सकता है।

नागार्जुन ने **पंचविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता** पर **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र** नाम से बृहत् भाष्य लिखा हो या नहीं, यह निर्विवाद है कि उनका **प्रज्ञापारमिता-सूत्रों** से घनिष्ठ सम्बन्ध था। बोधिसत्त्व की अवधारणा और प्रज्ञा की अवधारणा महायान के प्राण थे। बोधिसत्त्व का आदर्श माहायानिक चर्या की प्रेरणा था, प्रज्ञा उसका अन्तर्दर्शन। विश्व-कल्याण के लिए बोधि से साधक की आख्या

बोधिसत्त्व थी। बोधि और प्रज्ञा समानार्थक होने के कारण प्रज्ञा की साधना ही बोधिसत्त्व के लिए परम साधना थी। प्रज्ञा का सामान्य अर्थ बुद्धि है और उसे मोह अथवा मूढ़ता के विपरीत अर्थ का बोधक माना जाता है। तथापि दार्शनिक सन्दर्भ में 'प्रज्ञा' पद प्राय: साक्षात्कारात्मक ज्ञान अथवा प्रतिभा के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। प्रज्ञा का अनुसन्धान पारमार्थिक सत्य के साक्षात्कार का अनुसन्धान था। दार्शनिक स्तर पर यह हीनयानी अभिधर्म का निराकरण था। हीनयान ने लौकिक प्रत्यक्ष के गोचर घट-पटादि पदार्थों को सांवृत बताकर उनके आधार के रूप में अनेक तत्त्वों अथवा धर्मों की व्यवस्था की थी। प्रत्येक धर्म लक्षणधारक, अविश्लेष्य और द्रव्यसत् होता है। कुछ धर्म अनित्य और कुछ नित्य होते हैं। अनित्य धर्म मुख्यत: या तो मानसिक एवं ऐन्द्रिय उपलब्धि के भेद होते हैं अथवा उनके विषय। नित्य धर्म मुख्यत: निर्वाण है। सभी धर्म नि:सत्त्व, निर्जीव हैं। उनकी ओर विचारपूर्वक वैराग्य से तृष्णाक्षय और संसार से निवृत्ति होती है। फलत: हीनयान की चर्या वैराग्य की साधना थी और उसकी विचार-पद्धति अनुभव-प्रवाह के विश्लेषण की अनोखी पद्धति थी जिसमें अनुभव के मूल कारणों और रूपों अथवा लक्षणों के निर्धारण के साथ-साथ उनका मूल्यांकन भी होता था। इस पद्धति को विभिन्न व्याख्याकारों ने "साइकोलोजिकल", "साइकोएथिकल", "एनेलिटिकल" अथवा "फेनोमेनालॉजिकल" कहा है। लौकिक अनुभव-प्रवाह दु:खात्मक होता है और अविचार के कारण मनुष्य उसमें फँसा रहता है, पर अनुभव सहेतुक होता है और हेतुज्ञान से उसकी धारा को मोड़कर शान्ति की ओर प्रवाहित किया जा सकता है। अनुभव-प्रवाह में 'अहं' और 'मम' की कल्पना से मुक्त होने पर मनुष्य के राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं और उसके लिए विरक्त और शान्त जीवन व्यतीत करना सम्भव होता है।

इस अभिधर्म के दो मुख्य सिद्धान्त थे—नाना पृथक् 'धर्मों' का अस्तित्व और जीवात्मा का पृथक् द्रव्य के रूप में अनस्तित्व। धर्मस्वभाववादी और पुद्गल-नैरात्म्यवादी अभिधर्म में निर्वाण का स्वरूप विवादास्पद था। सभी निर्वाण को असंस्कृत अथवा नित्य मानते थे पर वैभाषिक उसे भावरूप और सौत्रान्तिक अभाव रूप मानते थे। प्रज्ञा के द्वारा निर्वाण की 'प्राप्ति' सबको अभिमत थी किन्तु किस अर्थ में, किसे और कैसे, ये विवेच्य विषय थे। ऐसा लगता है कि जहां संसार सहेतुक अनुभव-प्रवाह माना जाता था, निर्वाण उसकी विरोधात्मक कल्पना थी। इसमें कठिनाई है कि निर्वाण स्वयं कोई घटना नहीं है अपितु साक्षात्कार का नित्य विषय है। क्या अभाव असंस्कृत अथवा नित्य हो सकता है?

किसी विषय का भाव अथवा अस्तित्व उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति और उसका अभाव उसके स्वभाव की अनभिव्यक्ति से अलग नहीं बताये जा सकते। इस प्रकार भाव और अभाव दोनों ही स्वभावापेक्षी होते हैं। पर इस अव्यक्त

किन्तु व्यंग्य स्वभाव की कल्पना का क्या औचित्य है? यदि आत्मविषयक प्रतीतियों के पीछे किसी द्रव्यसत् आत्मा की कल्पना अनावश्यक है तो प्रतीतियों के बाह्य विषयों के पीछे नियत स्वभावों की कल्पना क्या अनावश्यक नहीं हैं? प्रतीतियों अथवा प्रतीत-विषयों के नियामक के रूप में विभिन्न स्वभावयुक्त द्रव्य-सत्ताएँ कल्पनामात्र हैं। विषय जिस नियत रूप में प्रतीत होता है उसका नियामक कोई द्रव्यगत स्वभाव नहीं है। सभी विषयों की यह निरुपादान या निराधार प्रत्ययात्मकता या प्रतिबिम्बात्मकता महायान सूत्रों का विशेष प्रतिपाद्य है। इसे धर्म-नैरात्म्य या शून्यता का नाम दिया गया है। इसका ज्ञान ही प्रज्ञापारमिता है जिससे ज्ञेयावरण-विमोक्ष सम्पन्न होता है। विषयात्मक विश्व चित्तसापेक्ष है। चित्त ही अपने परिचित स्वभाव का अतिक्रमण कर प्रज्ञा में अवतीर्ण होता है। विषयों से निवृत्त होने पर चित्त अपने से भी निवृत्त हो जाता है। यही चित्त का अचित्त हो जाना है। चित्त ज्ञान की एक अशुद्ध अवस्था है—क्लिष्ट, विषयावृत, सहेतुक। प्रज्ञा उसकी सहज, परावृत्त अवस्था है। किन्तु प्रज्ञा के लिए सभी घटनाएं, सभी विषय प्रतिबिम्बमात्र रह जाते हैं। यही उनकी शून्यता है। प्रज्ञा में विषय-भेद न रहने से प्रज्ञा और शून्यता को अभिन्न भी कहा जाता है। सभी धर्म शून्य हैं, शून्यता प्रज्ञा है, यही **प्रज्ञापारमितासूत्रों का** सार है। इस सारांश का तार्किक प्रतिपादन और आभिधार्मिक दृष्टि का खंडन नागार्जुन का मुख्य कार्य था।

शून्यता की व्याख्याएं

बौद्ध-विरोधी प्राचीन ब्राह्मण दार्शनिक शून्यता को अभावार्थक अथवा मिथ्यार्थक ही मानते थे। इसीलिए शंकराचार्य ने शून्यवाद को असंगत बताया है: बिना किसी सत् को स्वीकार किये केवल असत् का प्रतिपादन किस प्रकार किया जा सकता है? वाचस्पति मिश्र का कहना है कि शून्यवाद अभाव को ही मूर्तिमान बना देता है। उदयनाचार्य ने कल्पना की है कि शून्यवाद का मूल एक प्रकार की भ्रान्त मानसिक अनुभूति में था। आधुनिक व्याख्याकारों में सुज़ुकि शून्यता को निर्विकल्पता से अभिन्न मानते हैं। श्चेरबात्स्की ने शून्यता को सापेक्षता बताया है। प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति शून्यता को निस्स्वभावता, नैरात्म्य एवं प्रज्ञा-पारमिता कहते हैं किन्तु उसकी व्याख्या में कांट के दर्शन और अपने निजी दर्शन का मिला-जुला प्रयोग करते हैं। साथ ही वे अनात्मवाद का जिस प्रकार विभाजन करते हैं उसे गम्भीर आध्यात्मिक भ्रान्ति ही कहा जा सकता है। प्रो० रमणन् का कहना है कि शून्यता का मूल अर्थ लौकिक एवं पारमार्थिक विषयों की निस्सत्त्वता है; व्यावहारिक सत्य के स्तर पर यह परिच्छिन्न विषयों और प्रत्ययों की सापेक्षता है; पारमार्थिक स्तर पर यह शून्यता की शून्यता अथवा अद्वय सत्य है।

प्रो० राबिन्सन के अनुसार भाव और अभाव विषय-ज्ञान की भाषा के अन्तर्गत सार्थक पद हैं जबकि शून्यता उच्चतर निरूपणात्मक भाषा का पद है। शल्य जी ने एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है जो कि शून्यता के निषेधात्मक अर्थ को विशेष रूप से विवेचित करती है और एक नए दार्शनिक संवाद की रचना करती है।

सामान्य भाषा में 'शून्यता' शब्द रिक्तता, रहितता या अभावमात्र का अभिधान करता है। इसी आधार पर प्राचीन बौद्ध साहित्य में शून्यता का एक पारिभाषिक अर्थ किया गया—"आत्मा अथवा आत्मीय से रहित होना"। इस प्रकार हीनयान में शून्यता पुद्गल-नैरात्म्य की वाचक है। महायान में शून्यता का अर्थ व्यापकतर होकर धर्म-नैरात्म्य हो गया। सभी धर्म अथवा मूल पदार्थ अपारमार्थिक, मायोपम हैं। आन्तरिक और बाह्य जगत् का सामान्य ज्ञान एक मूल अविद्या पर आश्रित है। समस्त व्यावहारिक और तार्किक ज्ञान एक मौलिक भ्रांति के अन्तर्गत है। शून्यता इसी मौलिक भ्रान्ति का निषेध करती है। इस प्रकार महायान-सूत्रों में शून्यता लौकिक ज्ञान के पारमार्थिक मिथ्यात्व का सिद्धांत है। घट-पटादि सांवृत पदार्थ, रूपादि स्कन्ध, धातु और आयतन, 'बुद्ध', 'बोधिसत्त्व', प्रज्ञापारमिता आदि देशना के तत्त्व, सभी इस मिथ्यात्व से कुंडलित हैं। व्यवहार की पूर्वकल्पना होने के कारण इस मिथ्यात्व का व्यवहार में पता नहीं चलता जैसे स्वप्न का स्वप्नदशा में या इन्द्रजाल का उससे बँधी आंखों को। लौकिक ज्ञान, व्यावहारिक एवं तार्किक, सभी विषयों को भाव, अभाव और स्वभाव की कोटियों के सहारे निर्धारित करता है, किन्तु ये सभी कोटियां अविद्यामूलक कल्पनाएं हैं। चित्त की विशुद्ध, सहज, निर्विकल्प प्रभास्वरता या प्रज्ञा के आलोक में केवल अद्वय ही परमार्थ ठहरता है। शून्यता व्यावहारिक विषयों का निरूपण नहीं करती अपितु ज्ञानमार्गी आध्यात्मिक अनुभूति के संदर्भ में व्यावहारिक ज्ञान का पुनर्मूल्यांकन करती है। साथ ही व्यवहार की कोटियों को स्वीकार करने वाली सभी दार्शनिक दृष्टियों का वह प्रतिषेध करती है।

नागार्जुन ने शून्यता का मुख्य प्रतिपादन उसके इस दृष्टि-प्रतिषेधात्मक रूप में ही किया है। उनका कहना है—**शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः। येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥** शून्यता सब दृष्टियों से निकलने का द्वार कहा गया है। जिनके लिए शून्यता दृष्टि है वे तो असाध्य ही हैं। यहां 'दृष्टि' नाना दार्शनिक मतों को सूचित करती है। यद्यपि नागार्जुन ने **मध्यमकशास्त्र** (26) में कुछ अव्याकृत विषयक दृष्टियों का ही उल्लेख किया है, **ब्रह्मजालसूत्र** आदि में 'दृष्टि' का व्यापक अर्थ है। शून्यता उनका अन्तः समीक्षात्मक निषेध है। उसकी तुलना **डायलेक्टिकल** रीजन या वेरनुंफ्ट (Vernunft) से की जा सकती है जोकि तत्त्वमीमांसा की स्थापनाओं में अनिवार्य असंगतियां पाती है। **उदान** में हाथी और सात अंधों का दृष्टान्त मिलता है। अपने-अपने सीमित

अनुभव और अनुमान के सहारे वे अंधे हाथी के स्वरूप को रस्सी, खम्भा आदि के समान बताते हैं। मौलिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में एकांगी अनुभव और तर्क से इस प्रकार दृष्टियां जन्म लेती हैं और तार्किक दर्शन पल्लवित होते हैं। इस संदर्भ में जिन दर्शनों का नागार्जुन ने विशेष रूप से खण्डन किया है वे हैं वैभाषिक, सांख्य और वैशेषिक।

भगवान बुद्ध ने अपने को सब दृष्टियों से मुक्त बताया था और दृष्टियों को मूलतः दो कोटियों में विभक्त किया था : अस्तित्ववादी और नास्तित्ववादी, जिन्हें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद भी कहा गया है। स्वयं उपनिषदों में सत् या असत् को मूल तत्त्व प्रतिपादित करने वाली विरुद्ध दृष्टियों का उल्लेख है। नागार्जुन कात्यायन को दिये हुए बुद्ध के प्रसिद्ध उपदेश का उद्धरण देते हैं—**कात्यायनाववादे चास्तीति नास्तीति चोभयम् प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना॥** भाव और अभाव के विचारक भगवान ने कात्यायनाववाद में "है" और "नहीं है" इन दोनों का प्रतिषेध किया है। सत् का आग्रह तत्त्व की शाश्वतता को प्रसक्त करता है, असत् का आग्रह उच्छेद अथवा अभाव को—**अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥** यह स्मरणीय है कि गीता में भी इन दो अन्तों का उल्लेख मिलता है—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥** गीता में उच्छेदवाद के निराकरण के लिए शाश्वतवाद प्रस्तुत किया गया है। न असत् हो सकता है, न सत् का अभाव हो सकता है। नागार्जुन इसी युक्ति को बाधक तर्क के रूप में प्रयुक्त करते हैं—यदि वस्तुस्वभाव सत् हो तो वह असत् नहीं हो सकता, यदि वह असत् हो तो सत् नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहार में सत् और असत् का विपर्यय देखा जाता है। अतः वस्तुस्वभाव न सत् है, न असत् है। **यद्यस्तित्वं प्रकृत्या स्यान्न भवेदस्य नास्तिता। प्रकृतेरन्यथाभावो नहिजातूपपद्यते॥ प्रकृतौ कस्य वासत्यामन्यथात्वं भविष्यति। प्रकृतौ कस्य वा सत्यामन्यथात्वं भविष्यति॥** स्वभावविषयक इस सदसद्-विरोध के मूल में है स्वभाव की कल्पना का अन्तर्द्वन्द्व। स्वभाव का अवधारण परभाव की अपेक्षा करता है, परभाव स्वभाव की। स्वभाव परभाव का परभाव है—**स्वभावः परभावस्य परभावो हि कथ्यते॥** स्वभाव और परभाव के सिद्ध होने पर ही भाव सम्भव है—**स्वभावे परभावे च सति भावो हि सिध्यति॥** भाव होने हर ही अभाव सम्भव है क्योंकि भाव का अन्यथाभाव ही अभाव है—**भावस्यह्यन्यथाभावमभावं ब्रुवते जनाः॥** अतः स्वभाव और परभाव, भाव और अभाव की कोटियों में तत्त्वदर्शी आसक्त नहीं होता—**स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च। ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने।**

भाव और अभाव के प्रत्ययों के द्वन्द्व का समाधान अनेक प्रकार से प्रस्तुत हुआ है। जैन विचारक उनको **दृष्टि-सापेक्ष** मानते हैं, हेगेल उनका समन्वय

अन्यथाभाव के प्रत्यय में करते हैं। नागार्जुन अन्यथाभाव को भाव और अभाव का असमाहित द्वन्द्व ही मानते हैं और उनके परे बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग का सहारा लेते हैं। बुद्ध ने अन्तवर्जनपूर्वक मध्यमा प्रतिपदा को प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में व्याख्यात किया था। नागार्जुन कहते हैं—**यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।** जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उस ही को हम शून्यता कहते हैं, वही सापेक्ष निरूपण है, वही मध्यमा प्रतिपद् है। प्रतीत्यसमुत्पाद को प्राचीन बुद्धवचन में "गम्भीर, दुर्दर्श, दुरनुबोध, शान्त, उत्तम और अतर्कावचर" बताया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्राचीन सूत्र था "इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता है।" नागार्जुन ने इसे मुख्यतया सापेक्षता का सूत्र माना है, न कि कार्य-कारण-भाव का। व्यावहारिक कार्य-कारणता भी सापेक्षता का ही निदर्शन करती है। किसी भी पदार्थ का स्वभाव-निर्धारण अथवा अस्तित्व-नास्तित्व परापेक्ष होते हैं। स्वतंत्र न होने के कारण किसी भी पदार्थ का स्व-भाव अयुक्त है। पदार्थों की यह निस्स्वभावता ही उनकी शून्यता है। इस प्रकार सापेक्षता और निस्स्वभावता के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता से अभिन्न हो जाता है। दोनों अन्तों का परिवर्जन करने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यमा प्रतिपद् है। **"यदनयोरन्तयोर्मध्यम्, तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमनिकेतमविज्ञप्तिकम्, इयमुच्यते काश्यप मध्यमा प्रतिपद् भूतप्रत्यवेक्षा।"** यह मध्य अविद्यान्तर्गत एक तीसरी दृष्टि नहीं है अपितु 'भूतप्रत्यवेक्षा', सत्य का अन्तर्दर्शन, अर्थात् प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्रपञ्च के मिथ्यात्व का ज्ञान है, परमार्थतः न निरोध है न उत्पाद, न उच्छेद न शाश्वतता, न एकता है न अनेकता, न आगमन न निर्गमन। प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशम है, शिव है।

"अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादः प्रपञ्चोपशमं शिवं देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शून्यता अन्तग्राही दृष्टियों का प्रतिषेध है किन्तु स्वयं दृष्टि नहीं है और न केवल प्रतिषेधात्मक है, क्योंकि वह प्रतिषेध का भी प्रतिषेध करती है। व्यावहारिक ज्ञान की विधि और प्रतिषेध के प्रतिषेध रूप शून्यता व्यावहारिक प्रतिषेध से तुलनीय नहीं है। यह स्पष्ट है कि शून्यता यदि भाव नहीं है तो अभाव भी नहीं है। वह व्यवहार की बाधक नहीं है यद्यपि व्यवहार का मूल अविद्या में बताती हुई वह उसे अपारमार्थिक या अतात्त्विक बताती है। **"तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानत्यभाषत। सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा॥"** **"यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा। तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भंग उदाहृतः॥"** मायोपम होने से पदार्थ कारित्ररहित या अव्यावहारिक नहीं हो जाते। माध्यमिक अपने ऊपर नास्तिकता के आक्षेप

का परिहार करते थे। **"लोक-भासन-भंगो न धर्मः कश्चिन्न तत्त्वतः। भीतोऽज्ञोऽकल्पनिहारे सौगते वचनं त्वतः॥ इदं प्रतीत्य चास्तीदं न रोधो लोक-पद्धते.। प्रतीत्यजः स निःसत्त्वः सन्त्येते निश्चयः कथम्॥"** **"भवांस्तु नास्तित्वं शून्यतार्थं परिकल्पयन्'''न शून्यतायां प्रयोजनं वेत्ति अभावशब्दार्थं च शून्यतार्थ-मित्यध्यारोप्य भवानस्मानुपालंभते।"** शून्यवादी लौकिक धर्मों का न प्रत्याख्यान करते हैं न उनका तत्त्वतः आख्यान। व्यवहार-प्रसिद्ध कार्यकारण-नियम का निषेध नहीं किया जाता क्योंकि वह सापेक्षता ही है। किन्तु इन परतन्त्र, व्यावहारिक पदार्थों को सत्य कैसे माना जा सकता है? व्यावहारिक पर अपारमार्थिक विषयों को प्रतिबिम्बोपम कहा गया है। **"असंक्रान्तिमनाद्यन्तं प्रतिबिम्बादिसन्निभम्।"** **"हेतु-प्रत्ययसामग्रीं प्रतीत्य जातस्य परायत्तात्मलाभस्य प्रतिबिम्बस्येव कुतः सस्वभावता।"**

शून्यता की प्रतिपत्ति में सबसे बड़ी बाधा व्यवहारमूलक तर्क का यह सहज दुराग्रह है कि व्यावहारिक सत्ता ही सत्य का परम निदर्शन है, अतः उसका प्रत्याख्यान होने पर कुछ भी नहीं बचता। व्यावहारिक सत्ता से असंतुष्ट दार्शनिकों ने बुद्धिगम्य आदर्शों की अथवा अप्रत्यक्ष तत्त्वों की कल्पना की है पर वे सब ही बुद्धि-गोचर अथवा अगोचर तत्त्व स्वतः अथवा स्वाभासतः सत्तासंलग्न रहते हैं और स्वभावयुक्त भी होते हैं। इस प्रकार नाना अप्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के तत्त्वजगत् व्यावहारिक जगत् के ही आंशिक प्रतिबिम्ब और आंशिक निषेध ठहरते हैं। इनके विपरीत शून्यता व्यवहार का निषेध नहीं करती पर व्यवहारासक्त सभी दार्शनिक दृष्टियों का निषेध करती है पर स्वयं किसी दृष्टि या तत्त्व की स्थापना नहीं करती।

नागार्जुन की तर्कशैली और युक्तिविन्यास

क्या बिना अभ्युपगम के निषेध सम्भव है? क्या भाव का निषेध अभाव की स्वीकृति नहीं है? यदि मिथ्याज्ञान के विषय भी व्यवहार-समर्थ हो सकते हैं तो भ्रम और प्रमा में क्या अन्तर है? व्यावहारिक पदार्थों की व्यावहारिकता यदि मान ली जाती है तो फिर निषेध का विषय क्या शेष रहता है? शून्य रूप-रसादि अशून्य रूप-रसादि से किस प्रकार भिन्न हैं? इत्यादि प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इनका एक मौलिक उत्तर यह है कि मध्यमा प्रतिपद् (=शून्यता) दृष्टियों की आंतरिक परीक्षा है। अविद्यामूलक कल्पनाएं या अनादिवासनाएं संवृत्ति की रचना-सूत्र होती हैं, वे ही सहज प्रवृत्ति की नियामक होती हैं एवं व्यावहारिक ज्ञान और उसके विश्व को व्यवस्था प्रदान करती हैं। यद्यपि इन कल्पनाओं का ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्पष्ट विवेचन परवर्ती सौत्रान्तिक-विज्ञानवादी सम्प्रदाय में मिलता है, माध्यमिक चिन्तन में वे व्यावहारिक विषयों के सामान्य प्रत्ययों के रूप में विवेचित

हैं । किंतु उसमें इन प्रत्ययों के व्यवस्थापन अथवा सांव्यवहारिक प्रमाणों के संदर्भ में उनकी उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया गया है बल्कि इन प्रत्ययों के विशदीकरण के लिए प्रस्तावित दार्शनिक दृष्टियों में प्रत्ययमूलक द्वन्द्वात्मकता के कारण अनिवार्य अन्तर्विरोध पर ज़ोर दिया गया है। प्रो० मूर्ति ने माध्यमिक दर्शन को कांट की भाषा का प्रयोग करते हुए तत्त्वमीमांसिका प्रज्ञा (**मैटाफिज़िकल रीज़न**) की समीक्षा कहा है। किंतु यह अंशतः भ्रामक है, क्योंकि जहां कांट ने अपनी तीन मीमांसाओं के संदर्भ में तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, नागार्जुन अपने को दृष्टिमुक्त रखते हुए दृष्टियों का प्रतिषेध करते हैं। प्रचलित दार्शनिक धारणाओं और प्रश्नों पर विचार करते हुए नागार्जुन उनकी कठिनाइयों के मूल में प्रत्ययगत विसंगतियों का उद्घाटन करते हैं। किसी प्रत्यय या प्रत्यय-व्यवस्थात्मक दृष्टि को अन्तर्विरोध से ग्रस्त पाने के लिए नागार्जुन को स्वयं अपने पक्ष या दृष्टि की आवश्यकता नहीं है। अन्तर्विरोध के उद्घाटन की यह पद्धति 'प्रासंगिक' कहलाती है। प्रसंगापादन के लिए आलोच्य दृष्टि से स्वतंत्र दृष्टि का अभ्युपगम अनावश्यक है। यही प्रासंगिक शैली नागार्जुन की प्रसिद्ध तर्क शैली है।

क्या भाव का निषेध अभाव की स्वीकृति नहीं है, क्या चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व की चर्चा स्वयं व्याहत नहीं है, क्या पक्ष और विपक्ष के मध्य में कोई तीसरी कोटि कल्पनीय है? इन प्रश्नों के संदर्भ में नागार्जुन की तर्कयोजना में **लॉ ऑव काण्ट्रेडिक्शन, लॉ ऑव एक्स्क्लूडेड मिडल, लॉ ऑव डबल नीगेशन** के स्थान का विवेचन किया गया है। प्रो० श्ताल ने चतुष्कोटि में **मैनी वैल्यूड लॉजिक** की छाया देखी है, प्रो० राबिन्सन चारों कोटियों की असमान रूप से व्याख्या कर विरोध-परिहार का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः नागार्जुन के तर्कों में न तो सामान्य तर्कशास्त्र के नियमों की अवहेलना है, न किसी नये प्रकार के तर्कशास्त्र की उद्भावना है। वे स्वयं स्वगत विरोध की अनुपपन्नता, विरुद्ध पक्षों में गत्यन्तर का अभाव एवं अभावाभाव की भावरूपता के नियमों को स्वीकार करके ही दृष्टियों का खंडन करते हैं। इस प्रसंग में वे प्रायः प्रसज्य-प्रतिषेध, **हाइपोथेंटिकल सिलाजिज़्म, मोडस टालैन्स, डिस्ट्रक्टिव डिलैमा,** और **एन्थीमीम** का प्रयोग करते हैं। उनकी कुछ प्रसिद्ध युक्तियों को विस्तार से प्रस्तुत करने की बानगी से यह स्पष्ट हो जाएगा—यदि कोई वस्तु कभी भी उत्पन्न होती है तो वह या तो सहेतुक उत्पन्न होगी, या अहेतुक; यदि वह अहेतुक उत्पन्न होती है तो वह या तो उससे अभिन्न होगी, या भिन्न, या (किसी रूप में) उससे भिन्न एवं (किसी रूप में) उससे अभिन्न। किंतु इनमें से कोई भी विकल्प उपपन्न नहीं है, अतः किसी भी वस्तु को कभी भी उत्पत्तिमान कहना उपपन्न नहीं है।= "**न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।**" यहां तीसरे विकल्प में ("**द्वाभ्यां**=

स्वतः + परतः") वस्तुतः विरुद्ध-संसर्ग अभिमत नहीं है क्योंकि प्रकार-भेद से हेतुओं को कार्य से भिन्नाभिन्न कहा जा सकता है। चतुर्थ विकल्प (न स्वतः न परतः) के निषेध के निषेध से तीसरा विकल्प पुनः उपस्थित नहीं होता क्योंकि उसका तात्पर्य हेतुमात्र के निषेध में है न कि विभिन्न प्रकार के हेतुओं के संयोग के निषेध में। यह भी अवधेय है कि इस उत्पत्तिमत्व के खंडन में जहां एक ओर सर्वास्तिवादी, सांख्य और वैशेषिक मतों की समीक्षा है वहीं वस्तु की अवधारणा में स्वभाव और सत्ता के सम्बन्ध की दुरुपपादता के द्वारा वस्तु को निस्स्वभाव और कार्यकारण-सम्बन्ध को इस निस्स्वभावता की द्योतक आपेक्षिकता मात्र सिद्ध किया गया है।

वस्तुतः चतुष्कोटिकवाद-पद्धति नागार्जुन की अपनी उद्भावना नहीं थी। उसका प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से होता था। सामान्यतया उसमें पहली दो कोटियां ऐकान्तिक होती थीं, तीसरी विरुद्ध धर्मों के सावच्छेद समुच्चय के कारण समन्वयात्मक थी, चौथी कोटि विवादाध्यासित धर्मी के लिए विकल्पित धर्मों की अप्रयोज्यता के कारण अनिर्वचनीयता की थी।

पर यह सही है कि तथागत, लोक एवं जीव-शरीर-सम्बन्ध को लेकर जो परम्परागत अव्याकृत प्रश्न थे उनके सन्दर्भ में चतुष्कोटिक तर्क भिन्न प्रकार का है। उसका तात्पर्य इन विषयों के तर्कातीत स्वरूप की सूचना में है, जिसे तर्क की सीमाओं का सिद्धांत भी कहा जा सकता है। किंतु यहां भी यह स्मरणीय है कि तथागत-विषयक चतुर्थकोटि रहस्यवादी अनिर्वचनीयता की ही कोटि है।

जैसा कि सुविदित है, शून्यता को लेकर नागार्जुन पर आक्षेप होना स्वाभाविक है। नागार्जुन का उत्तर था कि यदि शून्यता के लिए उसके प्रतियोगी अशून्य को स्वीकार करना होगा तो शून्यता के प्रतिषेध में शून्यता स्वीकार्य हो जाएगी। वस्तुतः "सब धर्म शून्य हैं", यह प्रमाणसाध्य प्रतिज्ञावाक्य नहीं है बल्कि नाना प्रतिज्ञाओं की समीक्षा से उनके अन्तर्गत सांवृत धर्मों की शून्यता का ख्यापन या निर्देश मात्र है। अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व के मिथ्यात्व की स्थिति तुलनीय है।

11, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद

गोविन्दचन्द्र पांडे

1

मध्यमकशास्त्र

प्रस्तावना

नागार्जुन की **विग्रहव्यावर्तनी** और **मध्यमकशास्त्र** कृतियों का भारतीय दर्शन-परम्परा में अप्रतिम स्थान है, क्योंकि ये एकमात्र ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें अवधारणाओं का शुद्ध तार्किक विश्लेषण किया गया है और उस विश्लेषण के अनुसरण में दार्शनिक निष्कर्ष स्थापित किये गए हैं। कहा जा सकता है कि कभी कोई दर्शन-व्यवस्था शुद्ध तार्किक विश्लेषण के आधार पर नहीं स्थापित की जाती, तर्क का दार्शनिक प्रातिभ की पुष्टि के लिए ही उपयोग किया जाता है। किन्तु यह बात नागार्जुन के सम्बन्ध में सही प्रतीत नहीं होती। नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता की अवधारणाओं का, जिनकी उद्भावना महात्मा बुद्ध ने की थी, शुद्ध तर्कात्मक युक्तियों में रूपान्तरण कर दिया। महात्मा बुद्ध में इन अवधारणाओं का रूप दार्शनिक साक्षात्कार का ही है, जिसका अर्थ है कि तर्क उनमें अंगभूत है, किन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, नागार्जुन में तर्क ही उनका सर्वस्व हो गया है।[1] दार्शनिक साक्षात्कार या प्रातिभ में तर्क के अंगभूत होने का अर्थ है कि वह प्रातिभ स्वरूपतः ही सावयव और समग्रात्मक होता है। सावयवता का अर्थ है आन्तरतः उद्भिन्नता, अंगात्मकता और अंगों की परस्परापेक्षता। अवधारणाओं का यह स्वरूप इन्हें पूर्वमान्यता-रहित और सर्व आकलनात्मक बनाता है, क्योंकि ऐसी पूर्वमान्यता अनिवार्यतः तर्कबाह्य और असमग्रात्मक होती है। वास्तव में सावयवता समग्रात्मकता से संयुक्त होकर प्रत्येक अवधारणा ही को एक अवयव बना देती है और समग्र को अवयवी, जिसमें अन्योन्यापेक्षता स्वतः ही पूर्वमान्यता-राहित्य में प्रतिफलित होती है। महात्मा बुद्ध की इन अवधारणाओं को दार्शनिक प्रातिभ कहने का औचित्य यह है कि वे इन्हें विश्व-स्वभाव-निरूपण में व्यवस्थात्मक रूप से युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि वे युक्ति की युक्तता दर्शाने को अधिक महत्त्व नहीं देते। उनकी यह विशेषता : युक्तता दर्शाने को अपना उत्तरदायित्व नहीं स्वीकार करना : उन्हें दार्शनिक से भिन्न करती

1. हमारे इस कथन का एक प्रमाण यह है कि महात्मा बुद्ध ने जिन प्रत्ययों या वस्तुओं को अवाच्य कहा, अथवा कहें जिनकी अवाच्यता का मौन से संकेत किया, नागार्जुन ने उनकी शून्यता या निस्स्वभावता के लिए तर्क दिये।

उनके लिए युक्ति का महत्त्व केवल साधना को दृष्टियुक्त बनाने तक है, युक्ति का अपना कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। किन्तु दार्शनिक के लिए युक्ति का महत्त्व प्रथम होता है और वह प्रातिभ को युक्ति के निष्कर्ष के रूप में स्थापित करता है। किन्तु प्रथम होने पर भी युक्ति प्रातिभ से स्वतन्त्र अनुसरणीय नहीं होती, उसका युक्त निष्कर्षानुसारिणी होना आवश्यक होता है, और युक्त निष्कर्ष वह होता है जो प्रातिभ-मूलक, साक्षात्कार-मूलक हो। वास्तव में 'युक्त निष्कर्ष' द्वि-मुखीन पद है, जो एक ओर युक्ति की प्रातिभानुसारिता का वाचक है और दूसरी ओर प्रातिभ की युक्त्यात्मकता का। किन्तु कभी-कभी दार्शनिक लोग प्रातिभ को युक्ति के अधीन समर्पित कर देते हैं जिसका परिणाम होता है कि प्रातिभ उस स्वतंत्र हुई युक्ति के अधीन निष्कर्ष के रूप में अपचित हो जाता है, वह युक्ति का नियमन नहीं कर पाता। नागार्जुन में ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है, उन्होंने बुद्ध के साक्षात्कृत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को युक्ति के अधीन स्थापित कर उसे युक्त्यनुसारी निष्कर्ष में रूपान्तरित कर दिया : "सब धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं" : इससे यह आपादन सर्वथा युक्तियुक्त है कि सब धर्म स्वभाव से रहित हैं,क्योंकि सबका 'भाव' (सत्त्व) परापेक्षी होता है। किन्तु तब कोई पर भी ऐसा नहीं हो सकता जिसका कोई स्वभाव हो, परिणामतः कोई वस्तु स्वभावयुक्त नहीं हो सकती। किन्तु यदि कोई वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो और इस प्रकार स्वभावयुक्त हो, तब ? यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभाववान वस्तु अनुत्पन्न और अनुत्पादक होगी और इस प्रकार अकिंचित्कर : शून्य : ही होगी।[1]

इस प्रकार नागार्जुन ने सर्वधर्म-निस्स्वभावता का प्रतिपादन किया। किंतु तब आपके प्रतिपादन का, प्रस्थापना का, क्या होगा ? यह सस्वभाव है या निस्स्वभाव ? इसका उत्तर नागार्जुन का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है। उनका उत्तर है कि "उनकी प्रस्थापनाएं भी निस्स्वभाव हैं", और अपने इस कथन के परिणाम के लिए वे तैयार हैं। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि नागार्जुन की यह तार्किकता नैयायिकों और अन्य तार्किकों से भिन्न है जो प्रायः निरपवाद रूप से सर्व स्वीकारवादी हैं। उनके लिए पदार्थ (पद-वाच्य) मात्र सत् है। नागार्जुन का यह वैशिष्ट्य उनके तर्क को पूर्वमान्यता-राहित्य के परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है। वास्तव में नागार्जुन किसी भी पूर्वमान्यता पर रुकने को तब स्पष्टतः अस्वीकार कर देते हैं जब वे स्वयं प्रमाणों की प्रामाणिकता पर भी प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। न वे शंकर और डेकार्ट के समान आत्मा को ही अन्तिम और पूर्वमान्यता-रहित आधार स्वीकार करने को तैयार हैं, क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, वे आत्मा को भी विश्लेष्य और इस प्रकार शून्य पाते हैं। इतना ही नहीं, अहंकारातीत

1. म. शा. 24/22, 24/38

प्रत्यङ्‌मुखता के पराकाष्ठाभूत बुद्ध को भी वे सस्वभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं । तथागत गुह्य सूत्र के अनुसार : "जिस प्रकार यंत्रीकृत तूरी वायु के झोंकों से बजती है, उसका कोई वादक नहीं होता किन्तु शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की वाणी निःसृत होती है :

यथा यंत्रीकृतं तूर्यं वाद्यते पवनेरितम्
न चात्रवादकः कश्चिन्निश्चरंत्यथ च स्वराः
एवं पूर्व सुशुद्धत्वात् सर्वसत्त्वाशयेरिता ।
वाग्निश्चरति बुद्धस्य, न चस्यास्तीह कल्पना ।

(18.7 पर प्रसन्नपदा में उद्धृत)

इस पर कहा जा सकता है कि उनका यह निःस्वभाववाद या शून्यवाद केवल संवृति तक सीमित है, असांवृतिक परमार्थ उनके अनुसार शून्य नहीं है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, वास्तव में उनके अनुसार संवृति की शून्यता ही परमार्थं है,[2] वेदान्त के समान संवृति और परमार्थ ये सत् के दो स्तर नहीं हैं, न ऐसा ही है कि संवृति परमार्थ पर अध्यारोपित भ्रांति है। दूसरे शब्दों में, अध्यास की कोई भी परिभाषा नागार्जुनीय संवृति और परमार्थ पर लागू नहीं हो सकती। जैसा कि आगे यथास्थान हम देखेंगे, वे निर्वाण और तथागत को भी निस्स्वभाव कहते हैं और नास्तिक्यवाद से अपना भेद वस्तु-सत् के आधार पर नहीं, दृष्टि के आधार पर ही कर पाते हैं। अवश्य उनकी शून्यताविषयक इस दृष्टि का मूल भी अपने पूर्वगामी विचारकों में ही है: अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के आरंभ में सुभूति स्वयं प्रज्ञापारमिता की भी शून्यता का आख्यान करते हुए कहते हैं— "हे भगवन्, मुझे तो प्रज्ञापारमिता नामक भी कोई धर्म दृष्टिगत नहीं होता है।"[3] किन्तु तब भी, उनकी तर्क-प्रक्रिया के निष्कर्ष के रूप में शून्यता की अवधारणा में एक ऐसी आत्यंतिकता है जो प्रज्ञापारमिता-शास्त्रों में इसकी अवधारणा से आगे है।

इससे स्पष्ट है कि उत्तरवर्ती वेदान्त-दार्शनिक नागार्जुन के अधिक ऋणी नहीं थे जैसाकि कुछ विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि व्यवहार और परमार्थ के भेद और व्यवहार की सांवृतिकता आदि की अवधारणाओं ने उत्तरवर्ती अद्वैतवेदांत के आचार्यों को कुछ सीमा तक प्रभावित किया, किन्तु न

2. धर्मों की धर्मता क्या है ? धर्मों का स्वभाव । यह स्वभाव क्या है ? शून्यता । शून्यता क्या है ? निस्स्वभावता निस्स्वभावता क्या है ? तथता । तथता क्या है ? तथा-भाव, अविकारिता । परनिरपेक्षतया अकृत्रिम होने के कारण अग्न्यादि का अनुत्पाद ही उनका स्वभाव है । 1/15/2 पर प्रसन्नपदा ।

3. "तमप्यह भगवन् धर्मं न पश्यामि यदुत प्रज्ञापारमिता नाम ।" प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे कृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 366 से उद्धृत ।

उन्होंने परमार्थ को संवृति की शून्यता के पर्याय के रूप में देखा और न संवृति को निस्स्वभाव। परमार्थ उन के लिए विराट् सत्स्वरूप ब्रह्म था और जगत् ब्रह्म-स्वभाव।

नागार्जुन की यह तर्क-प्रणाली दार्शनिक रूप से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह दार्शनिक अवधारणाओं के अन्तर्निहित आकार को स्फुट कर उनमें निहित विषमताओं को प्रकट करती है। ग्रीस और पाश्चात्य परंपरा में ज़ेनो द्वारा प्रस्तुत गति-विषयक विरोधाभास (पाराडॉक्स) बहुत प्रसिद्ध है और उस पर बहुत लोगों ने लिखा है, किन्तु नागार्जुन ने न केवल गतिविषयक वह विरोधाभास ही उद्भावित किया है बल्कि उसके आगे जाकर अवधारणा मात्र की ही विरोधाभासता प्रकट की है। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि उस पर अनुवर्ती दार्शनिकों ने विचार नहीं कर उसे केवल वितंडा मात्र कह दिया। उनके तर्क को वितंडा कहने का कारण यह है कि वे केवल अन्य दृष्टियों का खंडन करते हैं और अपनी दृष्टि नहीं रखते। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रथम तो, अन्य दृष्टियों का खंडन यदि अयुक्त हो तो उन दृष्टियों के समर्थकों के लिए उस खंडन की अयुक्तता को प्रकट करना आवश्यक है। जैसे ज़ेनो का विरोधाभास स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि गतिमान बाण को गतिहीन स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु ज़ेनो द्वारा प्रदर्शित विरोधाभास का निराकरण दार्शनिकों का एक अनिवार्य उत्तरदायित्व है। किन्तु नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत चुनौती वास्तव में ज़ेनो से बहुत अधिक गहरी है, वे ज़ेनो के अनुरूप केवल देश और काल की अवधारणा-विशेष के आधार पर गति की असंभवता ही नहीं दिखा रहे हैं बल्कि स्थिति की असंभवता भी दिखा रहे हैं, और उसके आगे वस्तुमात्र की असंभवता दिखा रहे हैं। और उनकी अपनी प्रतिज्ञाहीनता का कारण यह नहीं है कि वे अपने खंडन के निराकरण के जोखम से बचना चाहते हैं बल्कि इसलिए है क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई भी प्रतिज्ञा संभव नहीं है। किन्तु तब कहा जा सकता है कि यदि सब निस्स्वभाव है, यदि संवृति और परमार्थ दोनों निस्स्वभाव हैं क्योंकि अन्यथा केवल संवृति की निस्स्वभावता सापेक्ष होगी, तो फिर यह **विग्रहव्यावर्तनी** और **मध्यमक शास्त्र** की प्रवृत्ति ही क्यों है? वास्तव में वे इसका भी उत्तर देते हैं। वे बुद्ध के प्रवचनों को अप्रवचित कहते हैं, उन्हें वे केवल श्रोताओं के वासनाजन्य श्रवण कहते हैं, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं। इसी प्रकार परमार्थ या तत्त्व को वे अनुद्विग्न नहीं, शान्त कहते हैं। अवश्य वे एक स्थान पर परमार्थ की देशना के लिए व्यवहार के आश्रय को आवश्यक कहते हैं:

> व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते
> परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते। (24.10)

किन्तु वास्तव में वे परमार्थता में व्यवहार का कोई स्थान नहीं देखते :

> निवृत्तिमभिधातव्यं निवृत्ते चित्त गोचरे।
> अनुत्पन्नानिरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता। (18.7)

इस कारिका पर चन्द्रकीर्ति की टिप्पणी है—इस प्रकार परमार्थ में वाणी की और ज्ञान की भी प्रवृत्ति कैसे सम्भव है? वह परमार्थ आर्यों को प्रत्यात्मवेद्य, सर्व-प्रपंचातीत और अपरप्रत्यय है। उसका न उपदेश हो सकता है और न ज्ञान।[4]

इस टिप्पणी में "आर्याणां प्रत्यात्मवेद्यः" से आर्यचित्त और प्रत्यात्मवेद्यता की वस्तुता या स्वभाव के स्वीकार का भ्रम हो सकता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, जैसाकि प्रज्ञापारमिता, बुद्ध और निर्वाण के ही स्वभाव के निषेध से स्पष्ट होना चाहिए। इस प्रकार शून्यता को निरपेक्ष अभाववाद कहा जा सकता है।[5] अवश्य नागार्जुन शून्यता को अभाववाचक रूप में देखने का भी निषेध करते हैं—"तस्मान्न निस्स्वभावार्थः शून्यार्थः"[6] किन्तु यह अभाव भाव-सापेक्ष अभाव है, निरपेक्ष अभाव नहीं।

किन्तु यह सब कह देने के बाद यह कहना सम्भव प्रतीत होता है कि यह शून्यता परम शून्यता नहीं है, निरपेक्ष अभाव नहीं है, यह केवल सर्वोत्तीर्णता है। अवश्य यह कहने के लिए नागार्जुन के किसी कथन को उद्धृत नहीं किया जा सकता, किन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि उनके समग्र प्रतिपादन से ऐसा ध्वनित

4. इति कृत्वा कुतस्तत्र परमार्थे वाचां प्रवृत्तिः, कुतो वा ज्ञानस्य? स हि परमार्थो अपर प्रत्ययः शान्तः, प्रत्यात्मवेद्य आर्याणां सर्वप्रपंचातीतः। स नोपदेश्यते? न चापि ज्ञायते।
5. यहां प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे का विपरीत मत उल्लेखनीय है जो वास्तव में प्रोफेसर टी. आर. वी. मूर्ति, वेंकटरमनन तथा सुजुकी प्रभृति का भी है। पांडे जी लिखते हैं, "इस विख्यात निरूपण (का. 1.1) में प्रतीत्यसमुत्पाद को भाषा और विचार की कोटियों से अतीत रूप में देखा गया है। ये कोटियां परस्पर व्यावर्तक सापेक्ष युगलों से निर्मित होती हैं। माध्यमिक कारिका के अनुगामी अध्यायों में नागार्जुन कारणता, गति, काल आदि आधारभूत अवधारणाओं का विश्लेषण करके दिखाते हैं कि वे वास्तव में स्वरूपतः द्वन्द्वात्मक हैं और इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि ये तर्कतः सापेक्ष और इस प्रकार किसी सद्वस्तु के अनुरूप नहीं हैं। इस प्रकार (इस विश्लेषण के आधार में) यह निहित धारणा विद्यमान है कि सत् को एक ऐसा द्रव्यरूप होना चाहिए जो अस्तित्व और अवधारणा दोनों दृष्टियों से स्वतंत्र हो" (बुद्धिस्ट फिलोसोफी, पंजाबी यूनीवर्सिटी, पटियाला) से प्रकाशित पुस्तक में संकलित पांडे जी का निबन्ध "बुद्धिज्म," पृ. 44) किन्तु वास्तव में यह इन विद्वानों का अपना आग्रह है, नागार्जुन का प्रतिपादन नहीं है जैसाकि हम आगे विस्तार से देखेंगे। अवश्य सत्ता (भाव) विषयक नागार्जुन की अवधारणा उपर्युक्त प्रकार की ही है, किन्तु वे इस अवधारणा के अनुरूप किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते।
6. 24.11 पर प्रसन्नपदा।

होता है। अन्यथा भी, द्वादशायतन की उत्पत्ति अविद्या से होती है और अविद्या का प्रहाण इस चक्र को समाप्त कर देता है। किन्तु उसके उपरांत ? उसके उपरान्त की कोई भी कल्पना सांवृतिकता के निदर्श पर ही हो सकती है—आत्मा, ब्रह्म, पुरुष या कुछ भी और। इस प्रकार उस कल्पना का आश्रयण न कर तत्त्व-बोध का प्रयत्न दूसरे द्वार से अविद्यामूलक आयतनों के चक्र में प्रवेश करने जैसा है। किन्तु तब अविद्या-प्रहीणता को अभावात्मक कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह कहने में भी संवृति-सापेक्षता रहती है। इस प्रकार इस सर्वोत्तीर्णता को शून्य में उत्तीर्णता भी कहा जा सकता है। किन्तु यह शून्यता उस पूर्णता के तुल्य भी कही जा सकती है जिसमें न कोई छिद्र है और न जिसका कोई छोर : हेगल के उस शुद्ध सत् के समान जो शुद्ध असत् से अभिन्न है और उस शुद्ध असत् के समान जो शुद्ध सत् से अभिन्न है। किन्तु यहां यह दोहरा देना आवश्यक है कि यह नागार्जुन के प्रतिपादन से केवल ध्वनि रूप में ही अनुमेय है, जो अनुमान केवल आरोप भी हो सकता है।

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद अब हम नागार्जुन की युक्तियों पर सूक्ष्मता से विचार करना चाहते हैं, जो कार्य पर्याप्त दुष्कर होने के साथ बहुत फलप्रद भी है, क्योंकि इससे दर्शन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्याओं का आन्तर स्वरूप समझने का अवसर मिलता है। इस समीक्षा में हम नागार्जुन और उसके एक प्रमुख व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति की युक्तियों को एक-साथ रखते हुए ही देखेंगे और उनके लिए एक सामान्य संज्ञा 'आचार्य' का उपयोग करेंगे, क्योंकि हम यहां शास्त्रीय व्याख्याकार की भूमिका से उन पर टीका नहीं करके दार्शनिक आलोचक की भूमिका से उनकी युक्तियों की परीक्षा कर रहे हैं। हमारे विचार में, यदि नागार्जुन की दार्शनिक दृष्टि को उसकी समग्रता में बिना किसी आपत्ति के स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी उनकी विशिष्ट वस्तुओं या तथ्यों की निस्स्वभावताप्रदर्शक प्रत्येक युक्ति को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह एक बात है कि जगत् अपनी समग्रता में निस्स्वभाव है और यह एकदम दूसरी बात है कि जगत् की विशिष्ट वस्तुएं, तथ्य और अवस्थाएं निस्स्वभाव हैं। इनमें भेद यह है कि 'जगत्' जबकि जगद्भाव का विषय है, वस्तुएं आदि प्रत्यक्ष, अध्यवसाय और तर्क की विषय हैं। उदाहरणतः, "जगत् अध्यास है" से यह आपादित नहीं होता कि "यह घट है" अध्यवसाय भी अध्यास है, और न "जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न है" से यह आपादित होता है कि जगत् भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है। नागार्जुन जगत् को और प्रत्येक वस्तु को निःस्वभाव कहते हैं और वस्तुओं, अवस्थाओं, तथ्यों सबकी, और तदुत्तर निर्वाण तथा बुद्ध आदि की भी निस्स्वभावता प्रदर्शित करते हैं। हमें उनकी ये सब युक्तियां अस्वीकार्य प्रतीत होती हैं। हम यहां उनमें से प्रत्येक की परीक्षा कर उनकी अयुक्तता दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

1. प्रत्यय-परीक्षा

बौद्ध वस्तुओं का स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पाद मानते हैं। यह प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है? नागार्जुन के अनुसार, हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा कर भावों की उत्पत्ति का नियम प्रतीत्यसमुत्पाद है। अब, भावों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न वाद हैं: अहेतुवाद, एकहेतुवाद, विषमहेतुवाद आदि। नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति इन सब मतों का खंडन करते हैं। नागार्जुन ने यह खंडन बुद्ध-स्वभाव-निर्देश के रूप में बुद्ध की वन्दना करते हुए प्रथम कारिका में ही किया है।

कारिका है:

> अनिरोधमनुत्पादम्, अनुच्छेदमशाश्वतम्।
> अनेकार्थमनानार्थम्, अनागममनिर्गमम्।

अर्थात् बुद्ध का स्वरूप, जोकि प्रतीत्यसमुत्पाद से अभिन्न है, इन आठ विशेषणों से प्रकट होता है—अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम। चंद्रकीर्ति इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं: निरोध क्षणभंगता है, किन्तु तत्त्व में क्षणभंगता नहीं है, अतः वह अनिरोध है। उत्पाद अपने भाव का उन्मज्जन है, तत्त्व में आत्मभावोन्मज्जन नहीं है, अतः वह अनुत्पाद है। उच्छेद सन्तान-प्रबन्ध का विच्छेद है, किन्तु तत्त्व में यह विच्छेद नहीं है, अतः वह (तत्त्व : बुद्ध) अनुच्छेद है। शाश्वतिकता सार्वकालिक स्थाणुता है, परन्तु तत्त्व में यह स्थाणुता नहीं है, अतः अशाश्वत है। तत्त्व में नानार्थता और अनानार्थता दोनों विकल्प नहीं हैं, अतः वह अनेकार्थमनानार्थम् है। तत्त्व में आगम और निर्गम द्वन्द्व के ये दोनों पक्ष लागू नहीं होते, अतः वह अनागम और अनिर्गम है।

इसकी व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं: "प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है? हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा कर भावों की उत्पत्ति का नियम प्रतीत्यसमुत्पाद है। अब भावों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न वाद हैं—अहेतुवाद, एक-हेतुवाद, विषम-हेतुवाद आदि।" इन सब मतों का खंडन करते हुए वे कहते हैं: "इन वादों के निषेध से पदार्थों का सांवृत रूप उद्भावित होता है और यह सिद्ध होता है कि आर्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावतः अनुत्पन्न हैं। अतः प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों में निरोधादि नहीं है।

यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद व्यवहार का स्वरूप है या परमार्थ का? प्रो० गोविन्दचन्द्र पांडे के अनुसार, "प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा व्यावहारिक जगत् का प्रतिषेध इन आठ विशेषणों से प्रकाशित किया गया है··· अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद में न निरोध होता है न उत्पाद, न उच्छेद होता है न शाश्वत

स्थिति···विरुद्ध धर्मों का निषेध प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता द्योतित करता है। तर्क-बुद्धि प्रत्येक पदार्थ को धर्म विशेष से विशेषित कर तद्विपरीत धर्म से उसकी व्यावृत्ति करती है। इस दृष्टि से जो वस्तु एक नहीं है उसे अनेक होना चाहिए, जो उच्छिन्न नहीं होती उसे शाश्वत होना चाहिए, किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद में इस प्रकार का तर्क नहीं लगता। इसका कारण यह है कि शून्य में विशेषण लगा देने से शून्य-गुणित अंकों के तुल्य विशेषणों का विरोध भी शून्यसात् हो जाता है। आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि मायामय बीज से उत्पन्न हुआ मायामय अंकुर न शाश्वत कहा जा सकता है न नश्वर।"[1] नागार्जुन के मंतव्य की यह पूर्णतः युक्त व्याख्या है। इसका अर्थ होता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद व्यवहार का पारमार्थिक स्वरूप है, व्यावहारिक स्वरूप नहीं, अर्थात् व्यवहार में निरोध, उत्पाद आदि वस्तुतः होते हैं किन्तु परमार्थतः इनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इस पर कहा जा सकता है कि व्यवहार और परमार्थ का इस प्रकार से भेद नागार्जुन पर कांटीय दृष्टि का आरोप है। किन्तु यह आपत्ति सही नहीं है, क्योंकि जैसाकि हमने ऊपर देखा स्वयं नागार्जुन ही कहते हैं कि यदि वस्तुओं का कोई स्वभाव स्वीकार करें तो व्यवहार ही नहीं चल सकता, क्योंकि स्वभाववान वस्तु न उत्पन्न हो सकती है न उत्पन्न कर सकती है, और परिणामतः तब कोई क्रिया भी संभव नहीं है। इसका अर्थ है कि व्यवहार में उत्पाद-निरोध आदि है और यह होना ही इस बात का द्योतक है कि व्यवहार-जगत् निःस्वभाव है। वास्तव में प्रतीत्यसमुत्पाद में सापेक्ष उत्पत्ति का ही कथन है। किन्तु तब यह कहना युक्त नहीं है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में अनिरोध और निरोध नहीं होता, यह कहना चाहिए कि प्रतीत्यसमुत्पाद निरोध-अनिरोध की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करता है। प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति प्रतीत्यसमुत्पाद की जो व्याख्या करते हैं उसमें यह आपत्ति नहीं उठ सकती, यद्यपि वह व्याख्या नागार्जुन की प्रासंगिक कारिका से संगत नहीं है। वे कहते हैं, "कांट के लिए दो कार्य थे: विकल्प की कोटियों को प्रागनुभविक दिखाना और तब यह दिखाना कि ये व्यवहार-जगत् के अंतर्गत सत्य हैं यद्यपि परमार्थतः असत्य, इसके विपरीत माध्यमिक का सिद्धांत सरल और सीधा है। उसके लिए कारण-नियम का व्यावहारिक याथार्थ्य सिद्ध करना अपेक्षित नहीं है, उसके लिए केवल यह दिखाना ही अपेक्षित है कि यह नियम केवल व्यवहार-जगत् तक ही सीमित है।"[2] अर्थात् व्यवहार-जगत् में सापेक्ष उत्पत्ति और निरोध वस्तुतः घटित होते हैं, किन्तु यह वस्तुओं का परमार्थ स्वरूप नहीं है, परमार्थतः कारण-कार्य-नियम का, उसके किसी भी रूप में कोई स्थान नहीं है। किन्तु इस व्याख्या के अनुसार कांट और नागार्जुन में कारणता की तात्त्विक

1. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 380 से उद्धृत
2. दि सेंट्रल फिलोसोफी आफ बुद्धिज़्म, ज्योर्ज एलन एंड अन्विन, लंडन, द्वितीय संस्करण 1966, पृ. सं. 168.

स्थिति को लेकर कोई अंतर नहीं रहता, अंतर केवल यह रहता है कि नागार्जुन व्यवहार और परमार्थ के क्षेत्र-निर्धारण के लिए कोई सैद्धान्तिक व्यवस्था प्रस्तुत नहीं करते जबकि कांट करते हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को व्यवहार-विषयक परमार्थ-दृष्टि, व्यवहार की प्रपंचरूपता, स्वयं परमार्थ, तथता, बुद्धत्व और शून्य के रूप में निरूपित करते हैं। इसी से वे प्रतीत्यसमुत्पाद की अनिरोध-अनुत्पाद आदि के द्वारा अतर्क्यता, अनिर्वाच्यता निरूपित करते हैं। किन्तु तब भी प्रश्न रह जाता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद-नियम यद्यपि व्यवहार की प्रपंचरूपता का द्योतक है किन्तु क्या प्रपंच : व्यवहार-लोक : में निरोध, उत्पाद आदि की व्यवस्था है ? इसका उत्तर निस्संकोच रूप से 'है' में होना चाहिए। पांडे जी कहते हैं कि "तर्क-बुद्धि व्यावर्तक द्वन्द्वों के माध्यम से उपचरित होती है किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद में इस प्रकार का तर्क नहीं लगता।" किन्तु प्रश्न है व्यवहार-लोक तर्क-बुद्धिमूलक है या कि परमार्थमूलक ? इसका उत्तर होना चाहिए कि यह तत्त्वतः परमार्थमूलक है और उपचारतः बुद्धिमूलक। वास्तव में नागार्जुन यह भी आपादनतः स्वीकार करते हैं और चन्द्रकीर्ति स्पष्टतः कहते हैं—"यहां प्रश्न उठता है कि माध्यमिक के इस अनुमान-प्रयोग में किस अर्थ की सिद्धि के लिए 'परमार्थतः' विशेषण है, क्योंकि लोक-संवृति (लोक-बुद्धि) से स्वीकृत उत्पाद अप्रतिषेध्य होता है। किन्तु माध्यमिकों के मत में लोक-संवृति से भी भावों का स्वतः उत्पाद सिद्ध नहीं होता। माध्यमिक से इतर मतावलंबियों की अपेक्षा से भी यह विशेषण सार्थक नहीं है क्योंकि माध्यमिक परमत की उत्पाद आदि व्यवस्था को संवृत्या भी कहां स्वीकार करता है ?" (प्रत्यय परीक्षा) यहां आपत्ति की जा सकती है कि यह चंद्रकीर्ति का अपना मत है, नागार्जुन का नहीं। किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि नागार्जुन जिन वस्तुओं के स्वभाव का जिन युक्तियों से प्रतिषेध करते हैं वे व्यवहारमूलक ही हैं। इस पर कहा जा सकता है कि नागार्जुन व्यावर्तक-द्वन्द्वों की दोनों प्रतिज्ञाओं का प्रतिषेध करते हैं, जैसे गति का भी और स्थिति का भी, इस प्रकार वे दोनों को प्रतिषेध्य दिखाकर अनिर्धायता की ओर संकेत करते हैं। यह सही है कि उनका यही प्रयोजन है, किन्तु जैसाकि हम अब देखेंगे उनकी प्रणाली यही है कि वे सांवृतिक को सांवृतिकतया ही अतर्कसंगत दिखाने का प्रयत्न करते हैं, जो अयुक्त है।

वे वस्तुस्वभाव के निषेध का आरंभ स्वतःउत्पादवाद के निषेध से करते हैं। अब स्वतःउत्पाद या परतः उत्पादवादियों ने अपने पक्ष में संवृति और परमार्थ में भेद किये बिना ही युक्तियां दी हैं, नागार्जुन के सिद्धांत के अनुसार वे सब युक्तियां वास्तव में संवृत्यात्मक ही होंगी। तब उन युक्तियों का खंडन यदि उसी स्तर की युक्तियों से किया जाता है तो वह सांवृतिक खंडन ही होगा, असांवृतिक नहीं। उदाहरणतः स्वतःउत्पादवाद के विरुद्ध उनकी युक्ति है कि "वस्तु का स्वतः उत्पाद

मानने पर उत्पन्न की ही पुनः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार 'स्वतः उत्पाद' का अर्थ है अपने ही उपादान से अपना उत्पाद", सांख्य की पदावली में कहें तो, त्रैगुण्य से त्रैगुण्य का उत्पाद। इसी प्रकार परतः उत्पादवाद के विरुद्ध उनकी युक्ति है कि "अन्य की अपेक्षा से यदि अन्य उत्पन्न हो तो ज्वाला से भी अन्धकार होना चाहिए और सबसे सब वस्तुओं का उत्पाद होना चाहिए, क्योंकि कार्य के प्रति उससे अतिरिक्त सब वस्तुओं में परतत्त्व अक्षुण्ण है।"

अब यह खंडन स्पष्टतः सांवृतिक तर्कपरक होने के अतिरिक्त अतिचार पूर्ण भी है, क्योंकि इसमें न स्वतःउत्पादवादियों के आशय का ध्यान रखा गया है और न परतःउत्पादवादियों के। वास्तव में साधारण रूप से कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के उदाहरणों को एक ही प्रकार में संगृहीत कर दिया जाता है और उससे बहुत भ्रांति होती है। उदाहरणतः तिल से तेल एक प्रकार का उदाहरण है और इंधन से अग्नि दूसरे प्रकार का, दूध से दही तीसरे प्रकार का और आघात से व्रण चौथे प्रकार का, व्रण से वेदना पांचवें प्रकार का, और इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकारक भी गिने जा सकते हैं। अब वास्तव में तिल से तेल में कोई कारणता नहीं है, यह केवल तेल का स्थान-परिवर्तन है। पहले तेल तिलों में रहता है और बाद में बर्तन में। इसमें कार्यता तेल के स्थान-परिवर्तन की ही है जिसका कारण तेली होता है। अब तेली का प्रयत्न और तेल की तिलों में से निष्कृति स्वतोत्पाद नहीं है। किन्तु दूध से दही के घटित होने को स्वतोत्पाद कहा जा सकता है। वास्तव में सांख्य-सम्मत सत्कार्यवाद का यही उपयुक्त उदाहरण भी है: संभवतः ईंधन से अग्नि को भी उपयुक्त उदाहरण कहा जा सकता है। सांख्य मतानुसार त्रैगुण्य में मात्रात्मक अनुपात-भेद ही सब रूपभेद का कारण है। अब, इसमें कारण क्या है और कार्य क्या? कारण त्रैगुण्य है या अनुपात-भेद? यदि मात्र त्रैगुण्य ही कारण हो तो अनुपात-भेद के बिना भी रूपभेद की उत्पत्ति संभव हो, जोकि नहीं होती, इसलिए कारण अनुपात-भेद को मानना होगा, त्रैगुण्य को नहीं, और उसका कार्य रूप-भेद को मानना होगा। इस प्रकार सत्कार्यवाद साधारणतः प्रतिपादित रूप में युक्त सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इसे केवल इसी रूप में उपयुक्त सिद्धान्त कहा जा सकता है यदि इसका अर्थ यह लिया जाए कि कारण के रूप में किसी सद्वस्तु की उपस्थिति होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु इसमें स्वतःउत्पाद की कोई बात नहीं है। स्वतःउत्पाद का केवल इतना ही अर्थ है कि पर की सहायता के बिना उत्पाद। यह उत्पाद वास्तव में सत्कार्यता में नहीं असत्कार्यता में उपलब्ध होता है। उदाहरणतः तैत्तिरीय उपनिषद् में ऋषि असत् से सत् की उत्पत्ति बताते हुए कहता है—तब उसने स्वयं अपने से अपना सर्जन किया : असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत। यह आत्मसर्जन स्वतोत्पाद का उत्कृष्टतम उदाहरण है और

सत्कार्यवाद के विपरीत असत्कार्यवाद है। किसी भी सर्जन का यह तत्त्व है कि वह असत्पूर्वक ही होता है और उसका उपादान सर्जक स्वयं होता है, और वह 'स्वयं' भी उत्पाद की क्रिया के साथ ही सृष्ट होता है। स्पष्टतः नागार्जुन या चन्द्रकीर्ति का आक्षेप इस पर लागू नहीं होता। स्वतोत्पाद का एक दूसरा और इसके विपरीत रूप सांख्य और बुद्ध-सम्मत जगत् के प्रवर्तन की अवधारणा में उपलब्ध होता है, क्योंकि यह प्रवर्तन पुरुष-कृत या अन्य-कृत नहीं है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि क्रमशः विकृति और द्वादश प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र के प्रवर्तन को सांख्य और बुद्ध अनादि मानते हैं इसलिए इसमें उत्पाद का कोई प्रश्न नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है, अविवेक और अविद्या के निवार्य होने के कारण इनकी विद्यमानता निरन्तर उत्पादन की अपेक्षी होती है, क्योंकि अन्यथा ये (विकृति या द्वादशांग) स्वतः निरस्त हो जाएंगे। किन्तु इनका उत्पादक इनके बाहर नहीं होने से इनकी उत्पत्ति स्वतः है। स्वतोत्पाद का यह स्वरूप भी नागार्जुन के आक्षेप का विषय नहीं है। वास्तव में स्वतोत्पाद के इस रूप पर उन्होंने अहेतुवाद के अन्तर्गत विचार किया है। अहेतुवाद के विरुद्ध उनकी आपत्ति है कि "इससे सर्वदर्शनसम्मत कारण-कार्यभाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगन-कमल के वर्ण और गंध के समान जगत् भी गृहीत नहीं होगा।" इनमें पहला तर्क स्पष्टतः बेतुका है क्योंकि सर्वदर्शन-सम्मत हेतुवाद को वे स्वयं भी कहां स्वीकार करते हैं? दूसरे, जनमत संग्रह को वैसे भी कोई युक्ति नहीं माना जा सकता। इसलिए केवल दूसरी युक्ति शेष रहती है कि इससे जगत् आकाश-कुसुमवत् सिद्ध होगा। किंतु यह अयुक्त उपमा है क्योंकि 'आकाश-कुसुम' पद वदतोव्याघात रूप में देखा जाता है और इसकी वदतोव्याघातता इस बात में देखी जाती है कि 'आकाश' पद पृथ्वी-जल आदि उस उपादान-राहित्य का वाचक है जो कुसुम के भौतिक पक्ष का घटक है और जिसके बिना कुसुम नहीं हो सकता। किन्तु जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, उपादान उचित रूप से कारण नहीं है क्योंकि पृथ्वी, जल आदि जो कुसुम के प्रादुर्भाव से पहले थे वही उसके प्रादुर्भाव के बाद भी रहते हैं और उसी रूप में रहते हैं, अन्तर केवल कुसुमत्व के आविर्भाव के रूप में पड़ता है जिसका हेतु उपादान नहीं होता। अब इस प्रादुर्भाव का क्या हेतु होता है? यह कुसुम के बजाय घट का उदाहरण लेने से अधिक सरलता से देखा जा सकता है। 'आकाश-कुसुम' पद को 'आकाश-घट' पद से भी स्थानान्तरित किया जा सकता है और इस पक्ष में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अब घट का हेतु क्या है? इसका हेतु कुंभकार की घटत्वावधारणा है जिसका कोई हेतु नहीं है, क्योंकि प्रथम घटकार के चित्त में : वह प्रथम घटकार चाहे व्यक्ति नहीं होकर समाज ही रहा हो : इसका प्रादुर्भाव स्वतः, अन्य हेतु के बिना, ही होता है।

परतः उत्पादवाद के विरुद्ध उनकी युक्ति है कि "तब ज्वाला से भी अंधकार

उत्पन्न होना चाहिए, सब वस्तुओं से सब वस्तुओं का जन्म होना चाहिए" आदि। अब यह द्रष्टव्य है कि ज्वाला से अंधकार उत्पन्न नहीं होता, ज्वाला से उसका निवारण होता है; इसी प्रकार, आघात से कांच टूटता है, टूटा कांच नहीं जुड़ता। परतस्त्व जबकि चारों में है : ज्वाला से अंधकार उत्पन्न होने और नहीं होने तथा आघात से कांच टूटने और नहीं टूटने में : कारण-कार्यता केवल दो में है। इसका अर्थ हुआ कि परतःउत्पादवाद में परतस्त्व की हेतुता नहीं, हेतु की परतस्त्वता अभिप्रेत है जबकि हेतुता के लिए किसी अन्य गुण की अपेक्षा है। उस अन्य गुण के साथ परतस्त्व भी अभिप्रेत है, अन्यथा इस वाद के अनुसार कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं बनता। किन्तु नागार्जुन इस स्पष्ट बात की उपेक्षा कर परतःउत्पादवाद का अनभिप्रेत अर्थ लेकर उस पर आपत्ति उठाते हैं।

नागार्जुन ने स्वतःउत्पादवाद के जिस रूप पर विचार किया है उससे भिन्न भी एक रूप हो सकता है, वह है जिसे वे अहेतुवाद कहते हैं। अहेतुवाद के विरुद्ध चन्द्रकीर्ति की एकमात्र आपत्ति यह है कि इससे "सर्वदर्शन-सम्मत कारण-कार्य-भाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगन-कमल के वर्ण और गंध के समान जगत् भी गृहीत नहीं होगा।" इनमें पहला तर्क स्पष्टतः बेतुका है जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, जहां तक दूसरी युक्ति का प्रश्न है, वह भी अयुक्त है। उसके सम्बन्ध में दो बातें द्रष्टव्य हैं : प्रथम यह कि अवश्य प्राकृतिक उत्पादनों में उपादान-राहित्य की स्थिति में उत्पत्ति संभव नहीं है—भौतिक तत्त्व उपस्थित नहीं होने पर कुसुम नहीं हो सकता, मिट्टी नहीं होने पर घट नहीं हो सकता—किन्तु सर्जनात्मक उत्पादनों में यह संभव है, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं : घटावधारणा की प्रथम उत्पत्ति किसी हेतु की अपेक्षा से नहीं होती, व्यक्ति या कहें आत्मा की उत्पत्ति अहंकार से होती है किन्तु अहंकार की उत्पत्ति किसी हेतु से नहीं होती। दूसरे, "गगन-कमल के समान जगत् भी गृहीत नहीं होगा" यह उपमा माध्यमिक नहीं दे सकता क्योंकि उसके अनुसार जगत् और गगन-कमल में वास्तव में ही कोई अंतर नहीं है। जगत् का ग्रहण उसके अनुसार किसे होता है ? वास्तव में किसी को भी नहीं, क्योंकि जिसे वह होता है वह स्वयं जगत् के ही अंतर्गत है। इस प्रकार अहेतुवाद के विरुद्ध भी उनका कोई तर्क युक्तियुक्त नहीं ठहरता।

अहेतुवाद को स्वतःउत्पादवाद में संगृहीत करते हुए उत्पाद-विषयक दो विकल्प रह जाते हैं। अब ये दोनों अस्तित्व के दो पृथक् क्षेत्रों में लागू होते हैं, स्वतःउत्पादवाद चित् के सर्जनात्मक क्षेत्र में और परतःउत्पादवाद चेतना के असर्जनात्मक क्षेत्र में और भौतिक जगत् में।

किन्तु परतःउत्पाद को लेकर वास्तव में कुछ दूसरी बड़ी कठिनाइयां हो सकती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि यह उत्पादक पर पूर्णतः पर होने पर

उत्पादन में समर्थ नहीं होता, उदाहरणतः मनोभाव भौतिक वस्तुओं में कोई परिवर्तन घटित नहीं कर सकते किन्तु मनोभाव अपने से अधिष्ठित देह में परिवर्तन घटित कर सकते हैं और उसके माध्यम से भौतिक वस्तुओं तथा अन्य देहों में परिवर्तन घटित कर सकते हैं। चैत्त दैहिक में कैसे परिवर्तन घटित कर पाता है यह एक निरंतर विवाद का विषय रहा है जिसका कारण चित्त और देह में नितांत परत्व को मानना ही है। अब चित्त यह परिवर्तन एक देह में घटित कर पाता है अन्य में नहीं, यह वास्तव में इस बात का द्योतक है कि चित्त और चित्ताधिष्ठित देह में नितांत परत्व नहीं है। कोई यह भी कह सकता है कि इनमें कोई परत्व ही नहीं है। अब यदि यह दूसरी बात मानें, जो मानना कम-से-कम इस प्रसंग में उचित जान पड़ता है, तब वास्तव में कारण और कार्य में परत्व कहीं नहीं रहता, केवल स्थूल दृष्टि से ही परत्व रहता है। किन्तु तब भी तिल से तेल के उदाहरण के अतिरिक्त पीछे हमारे द्वारा दिये गये सब उदाहरणों में एक परत्व है, निमित्त कारणता में तो पूर्ण परत्व है।

निश्चय ही कारण-कार्य-सम्बन्ध को गहराई से देखने पर इसमें बहुत-सी कठिनाइयां हैं, सबसे बड़ी कठिनाई कारण-घटना और कार्य-घटना को निर्धारित करने की है, जो निर्धारण अंततः विचारमूलक या प्रयोजनमूलक ही ठहरता है, किन्तु नागार्जुन या चंद्रकीर्ति ने उस दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं उठाई है इसलिए उन कठिनाइयों पर यहां विचार अनावश्यक है।

प्रमाण-द्वयता का खंडन

जैसाकि हम आगे देखेंगे, नागार्जुन प्रमाण की प्रामाणिकता को ही अस्वीकार करते हैं। प्रमाण को स्वभावहीन कह देने के बाद उसके प्रकारों की निस्स्वभावता दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। किन्तु यहां वे प्रमाण के दो आधारभूत प्रकारों की निस्स्वभावता प्रदर्शित करते हैं। इस प्रदर्शन से प्रमाण के स्वरूप पर गहराई से विचार का अवसर मिल सका है और इस प्रकार प्रमाण की स्वभावहीनता अधिक गहराई से दिखायी जा सकी है। किन्तु हमारे विचार में उनकी इसके लिए प्रस्तुत की गई युक्तियां भी युक्त नहीं हैं।

प्रमाण-द्वयता के खंडन में वे पूर्व पक्ष की तीन उद्भावनाएं करते हैं: (1) प्रमाण के दो प्रकार माने जाते हैं: स्वलक्षण और सामान्य लक्षण। अब इन लक्षणों से लक्षित कुछ और भी होना चाहिए और तब उसके लिए प्रमाण भी पृथक् होना चाहिए, क्योंकि स्वलक्षण और सामान्य लक्षण भी प्रमेय हैं। (2) यदि वादी कहे कि उसके ये लक्षण किसी अन्य लक्ष्य के संकेतक नहीं होकर स्वयं लक्ष्यभूत (लक्ष्यते तदिति) ही हैं तो भी यह कठिनाई होगी कि प्रमेय होने से ये कर्म होंगे और इनसे पृथक् करणभूत ज्ञान की अपेक्षा होगी। इस प्रकार दो स्वलक्षण

आपन्न होंगे, जो दोष है। यदि कहें कि विज्ञान-स्वलक्षण का कर्म विज्ञान के अंतर्गत ही होता है और इस प्रकार कर्म-करण की पृथक्ता नहीं होती तो भी यह युक्त नहीं होगा; क्योंकि इस प्रकार कोई स्वलक्षण प्रमेय नहीं रहेगा, अथवा वादी को यह व्यवस्था करनी होगी कि एक स्वलक्षण ऐसा है जो प्रमेयभूत है : विज्ञानगत : और दूसरा ऐसा जो अप्रमेयभूत है। अब यदि इस दूसरे को भी कर्म ही मानें तो इस कर्मभूत से अन्य कोई करण मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था प्रसंग होगा।

प्रथम युक्ति का तात्पर्य है कि "स्वलक्षण" और "सामान्य लक्षण" ये दो प्रमेय माने जाते हैं। अब यदि ये वस्तु के लक्षण हैं तो लक्ष्यभूत प्रमेय इनसे भिन्न तीसरा सिद्ध होगा, ऐसी अवस्था में तीन प्रमाणों की अपेक्षा होगी। किन्तु स्पष्टतः "स्वलक्षण" और "सामान्य लक्षण" को प्रमेय मानने वालों को इनसे पृथक् कोई प्रमेय अभिप्रेत नहीं है। इस पर नागार्जुन कहते हैं कि ऐसी अवस्था में लक्ष्य के बिना लक्षण मानना होगा जो युक्त नहीं है क्योंकि लक्षण किसी लक्ष्य को लक्षित करने वाला होता है। किन्तु नागार्जुन की यह आपत्ति इसलिए उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि जो लक्षणों से आगे किसी लक्ष्य को स्वीकार नहीं करता वह "लक्षण" शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में कर रहा है और उस अर्थ के अनुसार लक्षण लक्ष्य के बिना निरवलंब नहीं होते। अब, दूसरी आपत्ति भी युक्त प्रतीत नहीं होती। क्योंकि करण की कर्म से, प्रमाण की प्रमेय से, भिन्नता स्वीकार करने में क्या आपत्ति है यह बताना चाहिए; बल्कि, यदि प्रमाण और प्रमेय को अभिन्न मानें तब कठिनाई अवश्य हो सकती है। किन्तु ये दो पूर्वपक्ष वास्तविक पूर्वपक्ष नहीं हैं इसलिए यहां हम तीसरी उद्भावना के विरुद्ध उनकी आपत्ति पर ही विस्तार से विचार करेंगे। तीसरे पूर्वपक्ष के विरुद्ध उनकी आपत्ति है कि "यदि वादी कहे कि काठिन्यादि विज्ञानगम्य है अतः वह उसका कर्म है, इस प्रकार स्वलक्षण से कर्म अतिरिक्त नहीं होगा, तो यह अयुक्त है, क्योंकि तब विज्ञान-स्वलक्षण कर्म नहीं होगा, क्योंकि वह करण है और कर्म के बिना स्वलक्षण प्रमेय सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त वादी को प्रमेय में यह विशेष भेद करना होगा कि एक स्वलक्षण ऐसा है जो लक्षित होता है, वह प्रमेयभूत है, दूसरा ऐसा है जिससे लक्षित किया जाता है, वह अप्रमेयभूत है। यदि दूसरे को भी पहले के समान कर्म-साधन ही मानें तो उस कर्मभूत से अन्य कोई करण-भूत मानना होगा। इस दोष के परिहार के लिए यदि ज्ञानांतर की करणता स्वीकार करें तो अनवस्था दोष तथा एक चित्त को दूसरे का आलंबन बनाने (चित्तेन चित्तानुपश्यन) का दोष होगा।

किन्तु चित्त द्वारा यह आत्मानुपश्यन संभव है, वास्तव में इसे अध्यवसायात्मक चित्त का स्वभाव भी कहा जा सकता है। इस प्रकार "यह घट है" में "यह"

आत्मविज्ञप्त चित्त से पृथक् विषय का निर्धारण है जो "मैं घट देख रहा हूं" में स्फुटतः कहा जाता है। इस पर नागार्जुन की आपत्ति है कि इसमें अनवस्था दोष आपन्न होता है। किन्तु यह आपत्ति युक्त नहीं है क्योंकि चित्त का आत्मानुपश्यन-व्यापार एक ही बार आत्म-विषयकरण और तदवलंबी विषयित्व में पर्यवसायी होता है। अवश्य इस विषयी का भी विषयकरण और इस प्रकार तदवलंबी विषयीकरण संभव है और यह आत्म-विषयकरण-विषयीकरण की प्रक्रिया अनंत हो सकती है, किन्तु क्योंकि यह प्रत्येक घटना में एक बार पर्यवसायी होता है इसलिए यह अनंतता अवगमन की किसी घटना में घटित नहीं होती और परिणामतः आत्मानुपश्यन स्वीकार करने में आत्मानुपश्यन की अनंत प्रक्रिया और इस प्रकार अनवस्था-दोष आपादित नहीं होता। इस पर नागार्जुन कह सकते हैं कि तब यह विषयी अप्रमेय होगा। इसका उत्तर होगा कि हमें विषयी की प्रमेयता अभिप्रेत ही नहीं है, आप तो यह बतायें कि इसमें दोष क्या है?

इस युक्ति के पूर्वांश पर नागार्जुन की आपत्ति और भी अयुक्त प्रतीत होती है। वादी का कहना है कि विषय-प्रतिज्ञप्ति विज्ञान का स्वलक्षण है इसलिए करण-कर्म का भेद आपतित नहीं होता। इस पर नागार्जुन का यह कहना कि, "इस प्रकार विज्ञान-स्वलक्षण कर्म नहीं होगा और कर्म के बिना स्वलक्षण प्रमेय सिद्ध नहीं होगा" ग्राह्य नहीं है क्योंकि वादी का कहना यह है कि विज्ञान-स्वलक्षण करण-कर्म का युगपद्भाव है। यह प्रतिज्ञा होने पर इससे आगे की आपत्ति भी नहीं उठती कि एक स्वलक्षण ऐसा है जो लक्षित होता है और दूसरा ऐसा जिससे लक्षित किया जाता है। वास्तव में माइनांग-हुस्सर्ल की चित्त की विषयापेक्षात्मक अवधारणा में यह और भी स्पष्ट रूप से अभीष्ट है, वसुबन्धु भी ग्राह्य और ग्राहक को चित्त के अंतर्गत ही मानते हैं यद्यपि वे इस भाव को अविद्यामूलक मानते हैं। यदि स्वलक्षण को प्रमाण-प्रमेय का द्वित्व भी मानें, जैसाकि दिङ्नाग मानते हैं, तो यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि स्वलक्षण द्विपक्षीय होता है: निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वलक्षण वस्तु। इस पर नागार्जुन की यह आपत्ति कि प्रत्यक्ष यदि कर्म नहीं है तो उसके लिए प्रमाण क्या और यदि कर्म है तो फिर उसके लिए अन्य प्रत्यक्ष की अपेक्षा होगी, केवल इस पूर्वमान्यता के आधार पर ही युक्त हो सकता है कि प्रत्यक्ष (प्रमाण-करण) कर्म हुए बिना आत्मज्ञप्त नहीं होता।

इसके बाद नागार्जुन लक्ष्य-लक्षण-भेद या उनके अभेद के विरुद्ध तर्क देते हैं। वे कहते हैं: "यदि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है तो लक्ष्य से भिन्न अलक्षण भी है, तब उसके समान लक्षण भी अलक्षण क्यों नहीं होगा? इसी प्रकार लक्षण से भिन्न होने के कारण लक्ष्य भी अलक्ष्यवत् लक्ष्य नहीं रहेगा। एक दोष यह भी होगा कि लक्षण जब लक्ष्य से भिन्न है तो अवश्य ही वह लक्ष्य-निरपेक्ष होगा। किन्तु यदि लक्षण-निरपेक्ष लक्ष्य है तो ख-पुष्प के समान वह नहीं होगा। इन दोषों से

बचने के लिए वादी यदि लक्ष्य-लक्षण की अभिन्नता माने तो भी वह दोषमुक्त नहीं होगा। क्योंकि लक्ष्य से अभिन्न लक्षण लक्षण ही नहीं रहता, क्योंकि लक्ष्य-निर्देशी लक्षण ही लक्षण हो सकता है और इसी प्रकार लक्षण से अभिन्न लक्ष्य लक्ष्य नहीं रहता क्योंकि लक्षण से निर्दिष्ट वस्तु ही लक्ष्य हो सकती है।"

इनमें पहला (लक्ष्य-लक्षण-भेद-विरोधी) तर्क परतःउत्पादवाद के खण्डन जैसा ही है। अब यदि लक्ष्य से लक्षण और अलक्षण दोनों भिन्न हैं तो इससे वे दोनों समान नहीं हो जाते, इनकी भिन्नता परस्पर भिन्न की भिन्नता भी हो सकती है। उदाहरणतः लक्षण-लक्ष्य में अंगांगीभाव-संबंध मानने पर लक्षण लक्ष्य से अभिन्न होगा किन्तु लक्ष्य लक्षण से अभिन्न नहीं होगा क्योंकि अंग अंगी में अशेषतः रहता है जबकि अंगी अंग से अतिरिक्त भी होता है। लक्ष्य-लक्षण में संकेत-संबंध मानने पर दोनों परस्पर भिन्न किन्तु संबंधित होंगे जबकि अलक्षण लक्ष्य से सम्बन्धित नहीं होगा। उदाहरणतः दशशिरता रावण का लक्षण है और विशिष्ट लक्षण होने से वह रावण से अविश्लेष्य भी है : यह एक-सदस्यीय वर्ग है : किन्तु रावण दशशिरता से अभिन्न नहीं है क्योंकि वह अमृत कुंभ-नाभ, मन्दोदरि-पति आदि भी है। दूसरी ओर सर्पिल वक्रता सर्प का लक्षण है, किन्तु वह रस्सी में भी हो सकती है और सर्प उससे कभी रहित भी हो सकता है। किन्तु दशशिरता सर्प का और सर्पिल वक्रता रावण का अलक्षण है और परिणामतः ये भिन्न हैं किन्तु यह भिन्नता उपर्युक्त से सर्वथा भिन्न प्रकार की है—प्रथम में भिन्नता होने पर भी लक्षण लक्ष्य से अविश्लेष्य है, दूसरे में लक्षण लक्ष्य से विश्लेष्य तो है किन्तु यह लक्षित केवल सर्प को ही करता है, रस्सी को नहीं करता, किन्तु अलक्षण की भिन्नता, जैसे सर्पिल-वक्रता की रावण से भिन्नता, उससे और किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं होती सिवाय एक भिन्नता-सम्बन्ध के। इस प्रकार प्रथम उदाहरण में लक्षण लक्ष्य से भिन्न किन्तु अविश्लेष्य है, दूसरे में विश्लेष्य है किन्तु तब भी अद्वितीय-रूपेण संबंधित है, तीसरे में दो अवस्थाओं का परस्पर कोई संबंध ही नहीं है। चंद्रकीर्ति एक युक्ति और देते हैं—"लक्ष्य जब लक्षण से भिन्न है तो अवश्य ही लक्षण-निरपेक्ष है, किन्तु यदि लक्ष्य लक्षण-निरपेक्ष है तो वह ख-पुष्प के समान होगा ही नहीं।" क्यों ? लक्ष्य-लक्षण की एक अवधारणा ऐसी भी हो सकती है जिसमें लक्षण तो लक्ष्य-मूलक हो किन्तु लक्ष्य लक्षण-सापेक्ष नहीं हो। उदाहरणतः भौतिक वस्तुओं की साधारण अवधारणा के अनुसार ये वस्तुएं इन्द्रिय-समक्ष होने पर रूपवान् होती हैं किन्तु इन्द्रिय-समक्ष नहीं होने पर अरूपतः भी रहती हैं। इस प्रकार वे रूप से, जो कि उनका लक्षण-भूत होता है, स्वरूपतः निरपेक्ष होती हैं। यहां माध्यमिक कह सकता है कि हम लक्षण से निरपेक्ष लक्ष्य को स्वीकार नहीं करते—काठिन्यादि से अतिरिक्त पृथ्वी और स्कंधादि से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं है। किन्तु यह एक पृथक् प्रश्न

है, यहां प्रासंगिक एक तार्किक प्रश्न है कि लक्ष्य को लक्षण-निरपेक्ष मानने में क्या लक्ष्य ख-पुष्पवत् हो जाता है ? ख-पुष्प की असत्ता लक्षणाभाव के कारण नहीं है बल्कि पिण्डत्व और खत्व में परस्पर सम्बन्ध की असंभवता के कारण है ।

क्रिया से उत्पाद का खंडन

इस प्रसंग में नागार्जुन पूर्वपक्ष को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—चक्षु और रूप आदि प्रत्यय (हेतु) विज्ञान को साक्षात् उत्पन्न नहीं करते अपितु विज्ञान की जनक क्रिया को निष्पन्न करते हैं। इसीलिए वे 'प्रत्यय' : कार्यं प्रति अयन्ते: कहलाते हैं। इस प्रकार प्रत्यय से युक्त विज्ञान की जनक क्रिया ही विज्ञान को उत्पन्न करती है, प्रत्यय नहीं ।

आचार्य इसका समाधान निम्न युक्ति से करते हैं, "क्रिया से उत्पत्ति मानने पर क्रिया या तो उत्पन्न विज्ञान में माननी होगी, या उत्पद्यमान विज्ञान में, अथवा अभी अनुत्पन्न विज्ञान में । किन्तु जात (उत्पन्न) का जन्म व्यर्थ है, क्योंकि वह तो पहले से ही उत्पन्न है, अजात में कर्तृत्व होना सम्भव नहीं है इसलिए उसमें क्रिया होने का प्रश्न ही नहीं उठता, और जब न जात है न अजात तब जायमान के, जो दोनों का युगपद्भाव है, होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । दूसरे, चक्षुरादि करण विज्ञान-रूप कार्य को उत्पन्न करने से पहले अप्रत्यय हैं, परिणामतः वे तब उत्पादक नहीं होंगे, कार्य उत्पन्न हो जाने पर उनकी उत्पादकता की अपेक्षा ही नहीं रहती । परिणामतः क्रिया से उत्पाद का सिद्धान्त खंडित हो जाता है ।"

यहां भी नागार्जुन छिद्र का आविष्कार ही कर रहे हैं :यहां प्रथमतः यह स्पष्ट नहीं है कि "चक्षु और रूप से विज्ञान की उत्पत्ति" को क्रियापरक कहने का क्या अर्थ है ? यदि इसका अर्थ यह समझें कि रूप और चक्षु के संयोग से एक क्रिया उत्पन्न होती है और उससे विज्ञान उत्पन्न होता है, तो विज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से मानी जा सकती है । एक तो इस प्रकार कि यह क्रिया चित्त में क्रिया उत्पन्न करती है और वही विज्ञान है, और दूसरे इस प्रकार कि इस संयोग से उत्पन्न क्रिया चित्त में विज्ञप्ति-रूप में परिणत होती है जैसे घटकार और चाक की क्रिया घट में निष्पन्न होती है।

इस प्रकार क्रिया जात, जायमान या भावी विज्ञान में नहीं बल्कि चक्षु और रूप में घटित और विज्ञान में निष्पन्न या परिणत होती है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि मिट्टी पर हस्त और चाक की क्रिया घट में परिणत होती है, तब यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं है कि क्रिया जात, जायमान या अजात में से किस घट में घटित होती है; क्रिया तो हस्त, चाक और मिट्टी में घटित होती है और घट में परिणत होती है—जो घट इस परिणति से पहले है ही नहीं और परिणामतः जिसकी कोई कालोपाधि भी नहीं है ।

उनकी दूसरी आपत्ति है कि "किसी घटना या वस्तुस्थिति की कारणता उसकी कार्योत्पादकता से होती है। इसलिए जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक तथाकथित कारण को कारण नहीं कहा जा सकता और कार्य के उत्पन्न हो जाने पर तथाकथित कारण उत्पादक नहीं रहता।" जैसाकि सब जानते हैं कारण-कार्य सम्बन्ध पर मुख्य आक्षेप यही रहा है कि यह कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है बल्कि व्यवहार-सौकर्यमूलक व्याप्ति का आरोप है। किन्तु नागार्जुन की आपत्ति दूसरे प्रकार की है, इसमें व्याप्ति को ही अवास्तविक मानकर चला गया है, क्योंकि यदि व्याप्ति को मानें तो कहा जा सकता है कि उस आधार पर चक्षु में विज्ञानोत्पादकता पूर्वनियत है परिणामतः विज्ञान-रूप कार्य में चक्षु और रूप की प्रत्ययता :हेतुता: उसमें स्वरूपगत है। किन्तु यहां प्रश्न यह है कि यदि व्याप्ति नहीं मानें तब नागार्जुन की आपत्ति का कोई उत्तर हो सकता है या नहीं ? हम समझते हैं कि वह हो सकता है और वह यह कि हम प्रत्येक विशिष्ट घटना के घटित हो जाने पर उस घटना के उत्पादक हेतु को अतीत उत्पादक के रूप में जान सकते हैं। अवश्य पूर्व घटना कार्योत्पत्ति होने पर उत्पादक नहीं रहती क्योंकि वह उत्पादन नहीं कर रही होती, किन्तु किसी घटना को कारण कहने में यह शर्त कहां है कि उसके सम्बन्ध में उत्पादन के अनन्तर उसके उत्पादक रहे होने का कथन नहीं किया जायेगा ?

वे आगे कहते हैं कि, "फल की दृष्टि से भी हेतु नहीं है, क्योंकि व्यस्त तन्तु-तुरी-वेमादि में पट उपलब्ध नहीं होता। यदि उपलब्ध होगा तो कारणों की बहुलता से कार्य की बहुलता होगी। समस्त तन्त्वादि में भी पट नहीं है क्योंकि यदि प्रत्येक तन्तु-तुरी आदि में वह नहीं है तो समस्त में वह कैसे होगा ? इसलिए फल की दृष्टि से भी कारणता नहीं है।" यह आपत्ति अधिक स्पष्ट रूप से सदोष है : तुरी-वेम आदि करण व्यस्त तन्तुओं के ग्रंथन-प्रकारेण समस्त होने में क्रिया-जनकत्व रूप से कारण हैं और तंतु पट के उपादानरूपेण कारण हैं। तुरी-वेम आदि में क्रिया-प्रेरण के निमित्त रूप से जुलाहा उसका कारण है और जुलाहा-रूप में निमित्त वास्तव में वस्त्र-कल्पना में निहित है जो हस्त-क्रिया और तुरी-वेमादि क्रिया को उपकरण और तंतुओं को उपादान बनाकर व्यक्त होती है। यह वस्त्र-कल्पना और तन्मूलक प्ररणा अन्तःप्रत्यक्षगम्य होती है और तत्प्रेरित क्रिया और उसकी निष्पत्ति बहिःप्रत्यक्षगम्य। अब, तुरी-वेम से तंतु और ग्रथन-क्रिया पर्यन्त की प्रत्ययता वस्त्र से उपलब्ध नहीं होती बल्कि वस्त्र-कल्पना और तदभिव्यंजन-प्रेरणा से उपलब्ध होती है। नागार्जुन की मूल कठिनाई यहां अवयवी की सत्ता की है, कि वस्त्र तंतुओं से अतिरिक्त कहां है और तब उनमें पृथक्-पृथक् भी कहां है ? यदि व्यस्त-तंतुओं में वह नहीं है तो समस्त में वह कैसे हो सकता है, क्योंकि तंतुओं के समस्त होने पर उनमें कोई अतिरेक नहीं होता—कहें, पृथक् तंतुओं के भार का योगफल वस्त्ररूपेण एकत्र तंतुओं के

भार के बराबर ही होता है। इस समस्या का समाधान वास्तव में वही वस्त्र-कल्पना में है : वस्त्रकल्पना-प्रेरित उपकरण-क्रिया से समासित तंतुओं में कल्पनाभिव्यंजकता-रूप अतिरेक का आधान होता है। अवयवी भौतिक रूप से अवयवों से अतिरिक्त कुछ नहीं होता किन्तु चैत्त रूप से वह उनसे अतिरिक्त और प्राक् होता है क्योंकि वह व्यस्त अवयवों को समासित ही नहीं करता बल्कि बहुत बार उन्हें अस्तित्व में भी लाता है और तब उनके माध्यम से व्यक्त होता या अस्तित्व में आता है। उदाहरणतः तुरी, वेम और तंतु सब वस्त्र-कल्पना के कारण अस्तित्व में आते हैं और वस्त्र को आविर्भूत करने से पृथक् उनका कोई स्वरूप और अस्तित्व नहीं है। यह तथ्य प्राकृतिक अवयवियों में और भी अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—पर्ण, वृन्त, शाखाएं और मूल सब वृक्षत्व में ही आधृत होते हैं, उसके बिना उनका अपना कोई स्वरूप और अस्तित्व नहीं होता।

2. गतागत-परीक्षा

गति, गन्ता और गन्तव्य का निषेध

नागार्जुन के अनुसार, "गमन-क्रिया की सिद्धि गत, अगत या गम्यमान अध्व में ही सम्भव है। अब, गत अध्व का गमन इसलिए असिद्ध है क्योंकि वह गमन-क्रिया से उपरत अध्व है, इसलिए वर्तमान कालिक गमन-क्रिया से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? (गतं न गम्यते)। अगत अध्व का भी गमन उपपन्न नहीं है क्योंकि अगत वह है जिसमें गमन-क्रिया उत्पन्न नहीं है। इसी प्रकार गम्यमान का भी गमन नहीं बनेगा क्योंकि गत और अगत के बीच कोई अध्व ही नहीं बचता।"

इस पर नागार्जुन पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि "गति चेष्टा है। चेष्टा गत और अगत में नहीं हो सकती, गम्यमान में ही हो सकती है, क्योंकि जिसकी गति उपलब्ध है वह गम्यमान है।" इसके उत्तर में नागार्जुन कहते हैं, "वादी गमन-क्रिया के योग से ही गम्यमान का व्यपदेश करते हैं, किन्तु गमि-क्रिया एक है। ऐसी अवस्था में "गम्यमान के गमन" की सिद्धि के लिए गमि-क्रिया का गम्यमान के साथ पुनः सम्बन्ध कैसे होगा? क्योंकि गम्यमान में एक गमि-क्रिया का समावेश ठीक है, द्वितीय के लिए अवकाश नहीं है।

गति के विरुद्ध नागार्जुन की उपर्युक्त दो युक्तियों में से प्रथम आश्चर्यजनक रूप से ज़ेनो की गति के निषेध विषयक युक्ति के अनुरूप है जिसका आधार देश और काल की अनन्त विभज्यता की अवधारणा है। किन्तु देश और काल अनन्ततः विभज्य हैं इसके लिए क्या युक्ति है? ये अनन्ततः विभज्य नहीं हैं इसके लिए गति की विद्यमानता को क्यों युक्ति नहीं माना जाय? इसके अतिरिक्त, न तो देश की अनन्त विभज्यता प्रत्यक्षगम्य है और न काल की अनुभूतिगम्य, यह विभज्यता केवल देश और काल की उद्ग्रहणात्मक कल्पनामूलक है और इन दोनों उद्ग्रहणों के विरुद्ध एक मुख्य युक्ति प्रत्यक्षसिद्ध गति की विद्यमानता हो सकती है। देश और काल की अनन्त विभज्यता के कथन में वास्तव में देश और काल के अस्तित्व का निषेध भी है। अब, देश की अनन्त विभज्यता के विरुद्ध एक युक्ति अवयवियों की विद्यमानता से भी दी जा सकती है। उदाहरणतः घट या पट की स्वभाव-युक्तता के लिए हम ऊपर तर्क दे ही चुके हैं और इनकी विद्यमानता देश की अविभाज्यता को सिद्ध करती है।

इसके बाद नागार्जुन गति के विरुद्ध परमाणुवाद से युक्ति देते हैं। उनके अनुसार "पैर परमाणुओं में अनन्ततः विभज्य है।" यहां पुनः वही उद्ग्रहण है : परमाणु प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं जबकि पैर का अवयवत्व और अवयवित्व अन्तः-प्रत्यक्षगम्य है। पैर को परमाणुओं में विघटित कर वे युक्ति करते हैं कि उसका कुछ

भाग गत और शेष कुछ भाग अगत अध्व है, परिणामतः उसमें गतिमयता नहीं है।

इसी प्रकार काल के लिए भी : अब अनुभूत वर्तमान ईषत् अतीत और ईषत् अनागत को संगृहीत करता है, वास्तव में ये अतीत और अनागत अनुभूत अतीत और अनागत के आधार पर ही उद्गृहीत होते हैं, ये वास्तविक : अनुभूत : अतीत और अनागत नहीं होते। यह ईषत् विस्तृत अथवा कहें प्रलम्बित वर्तमान अनुभव की गत्यात्मकता की ही अपर संज्ञा है और यह वास्तव में अतीत और अनागत के नैरन्तर्य का आकलन करने में सक्षम होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि हम यहां किसी एक वैश्व काल की बात नहीं कर रहे हैं केवल अनुभूत काल की ही बात कर रहे हैं।

दूसरी युक्ति है कि, "यदि गम्यमान गन्तव्य (अध्व) में गमन-क्रिया मानें तो गमन के पूर्व ही गन्तव्य अध्व को गम्यमान मानना होगा। ऐसी स्थिति में या तो दो गमन मानने होंगे अथवा गति के अभाव में भी गम्यमानता की सिद्धि माननी होगी।" नागार्जुन की यह युक्ति नामों के आधार पर वस्तु-विधान की भ्रांति का एक उदाहरण है। "गम्यमान अध्व में गमन-क्रिया" कहने में यदि "गम्यमान अध्व" एक पृथक् वस्तु बनता है और गमन-क्रिया दूसरी पृथक् वस्तु, जिनके संयोग से गति नामक तीसरी वस्तु घटित होती है तो इस वाक्य-रचना को बदलने की आवश्यकता है, क्योंकि गमन-क्रिया से ही अध्व गम्यमान बनता है। वास्तव में यह भी कहा जा सकता है कि घटित हो रही गमन-क्रिया ही गम्यवान अध्व है : 'गम्यमान अध्व' यह विशेषण-विशेष्य का संयोग नहीं होकर एक ही पद है और इसका आविर्भाव गमन-क्रिया से ही होता है—दूसरे शब्दों में, गमन-क्रिया ही गम्यमान अध्व है, तीन पद (अध्व, गमि-क्रिया और गति) और तदनुरूप तीन पदार्थ केवल उद्ग्रहणात्मक कल्पनाएं हैं। वास्तव में उद्ग्रहण से भी 'गम्यमान गन्तव्य' (अध्व) में विशेषण-विशेष्य-भाव नहीं बनता, 'गत', 'गम्यमान' और 'अगत' ये ही पद पर्याप्त हैं, अथवा 'अतीत, वर्तमान और अनागत गन्तव्य' (अध्व) ऐसा भी कह सकते हैं। इस प्रकार यहां पूर्वपक्ष उपयुक्त रूप से यह है कि "गम्यमानता, अथवा कहें घटित हो रही गमन-क्रिया" ही गति है, "गत" अतीत अथवा स्मृत गमन-क्रिया है और "अगत" संभाव्य अथवा प्रत्याशित गमन-क्रिया। 'गमन-क्रिया' के साथ 'स्मृत' अथवा 'प्रत्याशित' विशेषण स्पष्टतः गमनत्व अथवा क्रियात्व की अविद्यमानता के द्योतक हैं और इस प्रकार घटित हो रही गमन-क्रिया ही गमन या गति है।

इसी क्रम में नागार्जुन गमन-क्रिया का भी निषेध करते हैं। इसके लिए उनकी युक्ति है कि "गमन को या तो गन्ता से अभिन्न मानना होगा या भिन्न। यदि अभिन्न मानते हैं तो कर्त्ता और क्रिया में अभेद मानना होगा और यदि भिन्न मानें

तो गन्ता घट-पट आदि के समान गमन-निरपेक्ष होगा ।'' नागार्जुन की यह आपत्ति कर्त्ता के स्वरूप को अस्पष्ट छोड़ देने के कारण है । गमन-क्रिया शरीर में होती है और शरीर इस दृष्टि से घट और पट आदि के समान ही है जिसमें गमन-क्रिया हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती । अब, शरीर जबकि गमन-क्रिया से अतिरिक्त भी है गमन-क्रिया क्रियापर शरीर से अतिरिक्त कुछ नहीं है, सिवाय चित्तगत क्रियापरता और तन्मूलक गतिमान शरीर की मानस-कल्पना के । अब, यह क्रियापर और क्रिया-कल्पनात्मक चित्त ही कर्त्ता है और क्रिया से भिन्न है । गति या क्रिया भी कर्ता के बिना हो सकती है, जैसे वायु में और वायु-प्ररित कागज़, पर्ण आदि में । अब, कर्त्ता क्रिया से भिन्न तो नहीं किन्तु उससे अतिरिक्त और इस प्रकार उससे विवेच्य (डिस्टिंग्विशेबल) है जबकि क्रिया कर्त्ता से पृथक् भी घटित हो सकती है । यदि वायु, पर्ण आदि में भी कर्त्तृत्व मानें और कर्त्ता क्रियावान को ही मानें तो कहा जायेगा कि कर्त्ता क्रिया से भिन्न नहीं किन्तु उससे अतिरिक्त है और क्रिया कर्त्ता से अभिन्न है और उसके अंतर्गत है । ऐसी अवस्था में गन्ता कर्त्ता का अंशभूत है और कर्त्ता गन्ता से अतिरिक्त है । यह स्पष्टतः परिभाषा-सम्बन्धी प्रश्न है और इससे वस्तुस्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता । किन्तु किसी भी अवस्था में गन्ता और गति को इसलिए अविवेच्य नहीं माना जा सकता क्योंकि गन्ता में गति से अतिरेक है । किन्तु यदि आप इसमें कोई भेद नहीं रखना चाहते, इन्हें इसी प्रकार परिभाषित करते हैं कि गन्तृत्व और गति परस्पर अनतिरिक्त और सापेक्ष हैं तो कहा जायेगा कि ये एक ही वस्तु का वाक्य-निर्माण के हित में द्वैधीकरण है । किन्तु इस सबका गति के भाव या अभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

इस युक्ति के उपसंहार में चन्द्रकीर्ति कहते हैं : ''देवदत्त गांव जाता है, किन्तु कैसे ? गति से गन्तृत्व अभिव्यक्त होता है, परिणामतः गन्तृत्व गति से पूर्व होना चाहिए । किन्तु 'गन्ता' नाम गतियुक्तता से ही बनता है, इसलिए वादी को कहना होगा कि गतियां दो होती हैं, एक वह जिससे देवदत्त गन्ता बनता है और दूसरी वह जिससे वह गमन घटित होता है । किन्तु इससे दो गतियां प्रसक्त होंगी जो अयुक्त है ।'' किन्तु यदि देवदत्त को गन्ता बनाने वाली गति गन्ता को पूर्वापेक्षित किये बिना हो सकती है तो देवदत्त के गांव-गमन को सम्पन्न करने वाली गति ही पर्याप्त है, क्योंकि उससे देवदत्त का गन्तृत्व भी घटित होगा और गांव-गमन भी सम्पन्न होगा । चन्द्रकीर्ति की यह युक्ति हमारे इस कथन की केवल अधिक स्पष्टता के साथ ही पुष्टि करती है कि नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति वस्तु-स्वभाव को भाषा के माध्यम से देखते हैं और भाषा में बलात् नामों की सृष्टि करते हैं । यहां प्रस्तुत युक्ति की संरचना इस प्रकार है : ''गति से गन्तृत्व पूर्व होना आवश्यक है, जिस गति से गन्ता गमन कर गांव जाता है । किन्तु तब गतियां दो हो गईं, एक वह जो गन्तृत्व को घटित करती है और दूसरी वह जिससे गन्ता गांव जाता है ।''

यहां सर्वप्रथम द्रष्टव्य यह है कि "मान लें कि आपकी युक्ति की रूप-रचना सही है, तब इससे यही सिद्ध हुआ कि यह रचना वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं है, न कि यह कि वस्तुस्थिति ही नहीं है। अब, यदि देवदत्त के गांव-गमन में दो गतियां नहीं हो सकतीं तो इस वाक्य की युक्ति-रचना इस प्रकार करें ही नहीं, इस प्रकार करें : देवदत्त जब गमन-क्रियावान है तब गन्तृ है, जब गमन-क्रियावान नहीं है तब गन्तृ भी नहीं है, और देवदत्त का सदैव गन्तृ होना आवश्यक नहीं है, वह स्थातृ भी हो सकता है और होता है।

हमने ऊपर कहा कि नागार्जुन की गति-विषयक युक्ति में ज़ेनो से आंशिक साम्य है, किन्तु नागार्जुन का उद्देश्य विरोधाभास-प्रदर्शन नहीं होकर गति की अतत्त्वता का प्रदर्शन होने से उनकी युक्तियां अनेक-पक्षीय और व्यापक हैं। इन युक्तियों के आधार पर नागार्जुन का निष्कर्ष है : इसलिए न गति है, न गन्ता, न गन्तव्य। चन्द्रकीर्ति इस कारिका (2.25) की व्याख्या करते हुए आर्य अक्षयमति-सूत्र उद्धृत करते हैं जो इस निषेध की द्विपक्षता प्रदर्शित करता है : "हे भदन्त शारद्वती पुत्र, चरण का संकर्षण अगति है, चरण का निष्कर्षण गति है। किन्तु जहां न संकर्षण-पदत्व है न निष्कर्षण-पदत्व वह आर्य (बुद्ध) का पद है। अपद-योग से ही आर्य की गति है, जो वास्तव में अगति और अनागति है।" अब बुद्ध की गति-विषयक यह प्रतिपत्ति व्यवहार और परमार्थ का भेद करने वाले किसी को भी स्वीकार्य होगी, क्योंकि गति व्यवहार-जगत् का विषय है और बुद्ध परम परमार्थ है। किन्तु नागार्जुन गति का निषेध केवल परमार्थ में ही नहीं करते वे व्यवहार में भी करते हैं। यही अयुक्तिसंगत है।

3. चक्षुरादीन्द्रिय-परीक्षा

इस प्रकरण में नागार्जुन ने चक्षुरिन्द्रिय विषयक तीनों पक्षों : द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का निषेध किया है। दर्शन की युक्तता के विरुद्ध उनका तर्क निम्न प्रकार है :

1, दर्शन, अर्थात् चक्षु, जब अपने रूप को नहीं देख सकता तब वह नीलादि विषयों के रूप को भी नहीं देख सकेगा, जैसे श्रोत्रादि इन रूपों को नहीं देख सकते।

2. दूसरे, दर्शन किसका दर्शन करता है? दृष्ट का, अदृष्ट का या कि दृश्यमान का? दृष्ट का दर्शन निष्प्रयोजन है, अदृष्ट में यह अनुपचरित होगा क्योंकि अदृष्ट का अभी अस्तित्व ही नहीं है, और दृष्ट-अदृष्ट के अभाव में कुछ तीसरा पक्ष हो ही नहीं सकता।

3. दर्शन वह है जो देखता है। अब इस दर्शन-क्रिया के साथ दर्शन-स्वभाव चक्षु का सम्बन्ध है या कि अदर्शन-स्वभाव चक्षु का? दर्शन-स्वभाव चक्षु का 'पश्यति' के साथ सम्बन्ध उपपन्न नहीं है क्योंकि तब दो दर्शन-क्रियाएं तथा दो दर्शन मानने होंगे। यदि कहें कि दर्शन-क्रिया से अदर्शन स्वभाव चक्षु का सम्बन्ध होता है तो भी युक्त नहीं है। क्योंकि तब स्तम्भ आदि अन्य अदर्शन-स्वभाव वस्तुओं का भी दर्शन-क्रिया के साथ सम्बन्ध हो सकेगा।

1. यहां प्रथम युक्ति के विरुद्ध प्रश्न होगा कि विषयों के रूप को देखने के लिए अपना रूप देखने की योग्यता क्यों अनिवार्य है? इस पर उनका उत्तर है कि यदि यह अनिवार्य नहीं है तो श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियों में भी पर-दर्शन-योग्यता होनी चाहिए।

इस युक्ति में यह धारणा निहित प्रतीत होती है कि इन्द्रिय और विषय में संयोग-सम्बन्ध होता है जो कि बाह्य सम्बन्ध है। किन्तु इसके लिए इन्द्रिय में कोई विशेषता होनी चाहिए और वह है आत्म-रूप की दृश्यमानता। इसलिए यदि दर्शनेन्द्रिय में आत्मदर्शन-योग्यता या गुण अर्थात् रूप से आंतर सम्बन्ध नहीं है तो उसमें पर-दर्शन-योग्यता या गुण भी नहीं हो सकता, यदि श्रोत्र में आत्मश्रवण-गुण नहीं है तो उसमें पर-श्रवण-गुण भी नहीं हो सकता। किन्तु यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। इन्द्रिय और विषय को परस्पर बाह्य वस्तुओं के रूप में नहीं देखकर एक ही वस्तु के दो उद्गृहीत या कल्पित पक्षों : विज्ञप्ति और विज्ञप्तः के रूप में देखना चाहिए। ऐसी अवस्था में दर्शन (चक्षु) दृश्य से स्वतन्त्र दर्शन (चक्षु) नहीं होगा। किन्तु मान लें कि दर्शन और दृश्य का सम्बन्ध हम बाह्य ही मानते हैं, तो भी पर-दर्शन के लिए आत्म-दर्शन-सामर्थ्य आवश्यक नहीं है, क्योंकि तब दर्शन

या चक्षु पर-दर्शन से ही चक्षु होगा और श्रोत्र पर-श्रवण से श्रोत्र।

2. दूसरी युक्ति गति के विरुद्ध दी गई एक युक्ति के अनुरूप है और उसकी भ्रामकता हम वहां दिखा ही आये हैं।

3. तीसरी युक्ति भी यद्यपि नयी नहीं है किन्तु इस प्रसंग में इस पर पुनर्विचार उपयोगी होगा।

इसका एक उत्तर इस युक्ति के स्तर पर ही हो सकता है और वह यह कि दर्शन-क्रिया से सम्बन्ध उस चक्षु का होता है जो इस क्रिया से क्रियावान होने के स्वभाव से युक्त है। स्तम्भ या श्रोत्र इस स्वभाव से युक्त नहीं हैं इसलिए ये इस क्रिया से युक्त नही हो सकते। और चक्षु को इस योग्यता से परिभाषित करने पर दो क्रियाएं या दो दर्शन भी आपन्न नहीं होते।

किन्तु मान लें कि दर्शन या चक्षु को हम दर्शन-स्वभाव मानते हैं और तब उसका दर्शन-क्रिया से सम्बन्ध मानते हैं। तब भी दो क्रियाएं या दो दर्शन कैसे आपादित होते हैं? दो क्रियाएं तब आपादित होंगी यदि दर्शन-स्वभाव और दर्शन-क्रिया एक ही बात नहीं हो। यदि यह एक ही बात हो तो फिर चक्षु और दर्शन-क्रिया अभिन्न होंगी और इस प्रकार सम्बन्ध का कोई प्रश्न नहीं रहेगा।

किन्तु वास्तव में दर्शन के सम्बन्ध में नागार्जुन की ये आपत्तियां इस धारणा पर आधारित हैं कि दर्शन (चक्षु) किसी वस्तु की संज्ञा है। किन्तु इन्द्रियों को वस्तुओं के रूप में नहीं देखकर चैत्त फलनों (फंक्शंस्) के रूप में देखना चाहिए जिन्हें हम वाग्व्यवहार में एक प्रसंग में वस्तु, दूसरे में गुण और तीसरे में क्रिया कह सकते हैं।

द्रष्टा की असिद्धि

दर्शन को करण मानने पर तदपेक्षा से द्रष्टा का आक्षेप होता है। नागार्जुन इस पर दो आपत्तियां उठाते हैं:

1. द्रष्टा जब स्वयं का दर्शन नहीं कर सकता तो वह अन्य का दर्शन क्या करेगा?

2. दूसरे, द्रष्टा का सद्भाव मानने पर प्रश्न होगा कि वह दर्शन-सापेक्ष है या दर्शन-निरपेक्ष? यदि दर्शन-सापेक्ष है तो प्रश्न होगा कि यह अपेक्षा सिद्ध द्रष्टा की है या असिद्ध द्रष्टा की? सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की पुनः अपेक्षा व्यर्थ है, असिद्ध द्रष्टा वंध्यापुत्र के समान स्वयं असिद्ध है, इसलिए वह दर्शन की अपेक्षा ही क्या करेगा?

1. इनमें पहली आपत्ति दर्शन के विरुद्ध उठायी गई पहली आपत्ति के समान ही है। किंतु इसे थोड़ा गहराई से देखने पर इस प्रश्न में दर्शन-विषयक इस प्रश्न से कुछ भिन्नता दिखायी देगी: यद्यपि द्रष्टा, चक्षु के समान ही, अपने रूप का

दर्शन नहीं कर सकता क्योंकि चक्षु के समान ही वह भी रूप-रहित है, किंतु ज्ञाता, चक्षु से भिन्न, जानने के एक अर्थ में अपने को जान सकता है। उदाहरणतः यह एक युक्त वाक्य है कि "मुझे यह ज्ञात है कि मैं अभी सो रहा था।" यहां आपत्ति हो सकती है कि यह कर्त्ता का आत्म-ज्ञातृत्व नहीं है, क्योंकि इसमें कर्त्ता कर्त्ता नहीं रहकर कर्म हो जाता है और इस प्रकार वह आत्मज्ञ नहीं होकर आत्म-वियुक्त हो जाता है। इससे अनवस्था प्रसंग भी होता है। इसका उत्तर होगा कि यहां नागार्जुन "स्वयं का दर्शन करने" की अपेक्षा कर रहे हैं तो वह अपने विषयकरण के बिना कैसे संभव है? यदि वे आत्म-विषयकरण के बिना यह अपेक्षा करते हैं तो यह स्त्री से वन्ध्यात्व के साथ पुत्रवती होने की मांग करने जैसा ही होगा। किंतु चक्षु और द्रष्टा में आत्मकर्मत्व घटित होने पर भी आत्म-दर्शन की मांग वन्ध्या से पुत्र की मांग जैसी ही है क्योंकि दोनों स्वरूपतः अरूपवान हैं। और इनके स्वरूपतः अरूपवान होने से यह भी सिद्ध है कि उनमें आत्म-विषयकरण संभव नहीं है किंतु ज्ञाता में आत्मविषयकरण संभव है। अब ज्ञाता यह आत्मज्ञान, आत्मविषयकरण, अपने अंश में ज्ञातृत्व के अपाकरण के द्वारा ही सिद्ध कर पाता है और इस प्रकार कहा जा सकता है कि वह भी वास्तव में आत्मज्ञ नहीं होता, विषय-कृत आत्मा का ही ज्ञाता होता है। इस प्रकार ज्ञान, और उससे भी अधिक दर्शनादि इन्द्रिय-ग्रहण, केवल पर का ही संभव है। परिणामतः ऐसे में यह आपत्ति कि, क्योंकि द्रष्टा अपना दर्शन नहीं कर सकता इसलिए वह परदर्शन कैसे कर सकता है, युक्तिसंगत नहीं ठहरती।

2. दूसरी आपत्ति का उत्तर होगा कि द्रष्टा के दर्शन-सापेक्ष या निरपेक्ष होने का कोई प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि दर्शन और द्रष्टा में अभेद है—यदि द्रष्टा को दर्शनातिरिक्त नहीं मानें तो। यदि उसे दर्शनातिरिक्त मानें तो भी द्रष्टा में दर्शन-सापेक्षता नहीं होगी, केवल अतिरिक्तता ही होगी। किंतु वास्तव में द्रष्टा को दर्शन से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिए। तब प्रश्न होगा कि तब दर्शन और द्रष्टा में अंतर क्या है? इसका उत्तर होगा कि कोई अंतर नहीं है, केवल 'द्रष्टा' पद 'दर्शन' के सकर्मक स्वरूप को अप्रकट से प्रकट करता है। इस समाधान के बाद द्रष्टा के सिद्ध या असिद्ध होने की कोई बात नहीं रहती।

4. स्कन्ध-परीक्षा

इसके बाद नागार्जुन रूप-स्कंध के प्रतिषेध में निम्न प्रकार से तर्क करते हैं : "रूप भौतिक हैं तो चार महाभूत उनके कारण होंगे, क्योंकि कुछ कारण के बिना नहीं हो सकता। किंतु यदि रूप का कारण मानें तो प्रश्न होगा कि यह कारण सत्-रूप का है या असत्-रूप का ? यदि रूप के सत् होने पर उसका कारण मानें तो सत् (विद्यमान) कार्य को कारण से कोई प्रयोजन नहीं है (उत्पन्न को उत्पादक की अपेक्षा नहीं है) और यदि रूप असत् है तो उसका कारण नहीं हो सकता— अविद्यमान कार्य का कारण कैसे होगा ?"

यह युक्ति मूलतः कारण-कार्य सम्बन्ध-विषयक है, स्कंध-विषयक नहीं। इसमें एक अन्तर्निहित प्रतिज्ञा है कि "कारण-कार्य एक संबंध है और सम्बन्ध के होने के लिए सब पदों का विद्यमान होना आवश्यक है। किंतु कारण-कार्य ऐसे पदार्थ हैं जो एक-साथ विद्यमान नहीं हो सकते : कारण तब तक कारण है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उत्पन्न कार्य को कारण की कोई अपेक्षा नहीं हो सकती। किंतु जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक वह सम्बन्धित पद नहीं हो सकता, परिणामतः कारण भी कारण नहीं हो सकता।

अब यहां हमारा प्रथम प्रश्न यह है कि आप यह आपत्ति कारण-कार्य-सम्बन्ध पर कर रहे हैं या कि उसकी अवधारणा के एक पक्ष पर ? यदि आपकी कठिनाई यह है कि कारण-कार्य एक-साथ नहीं हो सकते और सम्बन्ध के दोनों पदों का एक-साथ होना आवश्यक है, तो आपकी प्रतिज्ञा यह नहीं है कि कारण-कार्य-सम्बन्ध असत् है बल्कि यह है कि इसका स्वरूप सम्बन्ध की अवधारणा के अनुरूप नहीं है। किंतु ऐसी अवस्था में यही कहा जायेगा कि आपकी सम्बन्ध की अवधारणा में अल्प-व्याप्ति-दोष है जिसका एक प्रमाण यह है कि यह कारण-कार्य-सम्बन्ध पर व्यापक नहीं है। दूसरा समाधान यह हो सकता कि कारण-कार्य दो स्वतंत्र पद नहीं हैं और परिणामतः इनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता, ये एक प्रक्रिया में व्यावहारिक सुविधा के लिए पृथक्कृत या उद्गृहीत दो स्थितियां हैं। प्रक्रिया काल-क्रमात्मक, उत्पन्न-विनष्टात्मक होती है जिसमें प्रत्येक स्थिति युगपद् रूप से सदसद् और इस प्रकार सतत होती है। यह सातत्य निष्पादन-निष्पत्ति-रूप होता है, इसी को उद्ग्रहण द्वारा पृथक् कर हम कारण-कार्य कहते हैं। बौद्ध इस सम्बन्ध को तदाश्रित्य-तदोत्पत्ति रूप मानते हैं। इसमें ऐसा प्रतीत होता है जैसे आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध भूमि और घट के जैसा है, जबकि वास्तव में यह सम्बन्ध वैसा नहीं है, यह "नियतरूपेण घटित हुए होने पर नियतरूपेण घटित होने" का है। इस सम्बन्ध में स्मृति दो घटनाओं को धारण करती है। इस धारण को ऐसा कल्पित

करना जैसे वे भूमि-घटवत् या घट-जलवत् हों और तब कहना कि वे इस प्रकार सम्बन्धित नहीं हो सकते इसलिए वे किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं, भ्रांति है।

किंतु यहां स्कंधों की कारणता के प्रसंग में नागार्जुन की युक्ति में एक दूसरी कठिनाई भी है, वह यह कि महाभूत स्कंधों के किस प्रकार के कारण हैं ? ये स्पष्टतः उपादान कारण हैं। अब उपादान कारण के सम्बन्ध में वह आपत्ति लागू नहीं होती जो नागार्जुन ने उठाई है, क्योंकि उपादान कारण कार्य में विद्यमान रहता है और इस कार्य की विद्यमानता कारण की विद्यमानता के साथ ही सम्भव हो सकती है, इसके बिना नहीं। इस प्रकार उनके इस प्रश्न का कि "यह कारण सत्-रूप का है या असत् रूप का ?" उत्तर होगा कि यह सत्-रूप का कारण है क्योंकि सब उपादान कारण अपने कार्य की विद्यमानता में विद्यमान रहते हैं। यदि कहें कि कार्य की उत्पत्ति अनन्तर होती है, तो इसका उत्तर होगा कि वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है यद्यपि कारण-कार्य-संवंध की तार्किक संरचना के अनुसार यह आवश्यक हो सकता है। भूत और भौतिक या स्वर्ण और कुंडल इसी प्रकार के कारण-कार्य हैं पूर्वापरता जिनमें नहीं रहती जबकि बुनना और वस्त्र इस प्रकार के नहीं हैं। किन्तु मान लें कि स्वर्ण और कुण्डल के समान उपादान कारण के सब कार्य यद्यपि कारण की विद्यमानता में ही विद्यमान रहते हैं किंतु उत्पन्न कारण के अनन्तर ही होते हैं, तब नागार्जुन की आपत्ति का क्या उत्तर होगा ? तब इसका उत्तर होगा कि यह कार्य के सत् : विद्यमान : होने पर ही उसका कारण होता है और यह कार्य अपने कारण की विद्यमानता में ही विद्यमान रह सकता है।

इस पर नागार्जुन की आपत्ति होगी कि उनका प्रश्न शुद्ध रूप से आकारात्मक है : सत् कार्य को कारण की अपेक्षा ही नहीं हो सकती, वह तो है ही, और कार्य असत् होने पर कोई वस्तुस्थिति कारण कैसे कही जा सकती है, क्योंकि कोई घटना कार्य के बल पर ही कारण होती है ? इसका उत्तर होगा कि उपादान कारण के प्रसंग में कार्य की उत्पत्ति होने पर ही कोई वस्तुस्थिति कारण कही जाती है, जैसे स्वर्ण स्वतः कारण नहीं है, कुण्डल के उत्पन्न होने पर ही उसका कारण है, अथवा स्वर्णकार के लिए वह कुण्डल की उत्पत्ति के पूर्व, उसके असत् होने पर भी, उसका भावी कारण है। जहां तक सत् कार्य को कारण की अपेक्षा नहीं होने का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में हमने ऊपर कहा ही है कि कार्य को अपनी विद्यमानता में ही उपादान कारण की अपेक्षा होगी : स्वर्ण के तिरोभाव से कुण्डल स्वतः तिरोभूत हो जाएंगे : रूई के क्षय से वस्त्र का स्वतः क्षय हो जाता है। इसलिए भूत और स्कंध की कारण-कार्यता के प्रसंग में नागार्जुन को हमारा उत्तर होगा कि स्कंध को अपनी विद्यमानता में ही भूत की आवश्यकता है और स्कंध की विद्यमानता में ही भूत उसका कारण होता है। अनुत्पन्न स्कंधों का भूत संभाव्य कारण होता है—अर्थात् उसमें स्कंधों की उत्पत्ति की योग्यता निहित रहती है।

7. संस्कृत-परीक्षा

संस्कृत धर्मों के याथार्थ्य के विरुद्ध नागार्जुन निम्न प्रकार से युक्ति प्रस्तुत करते हैं :

1. स्कन्ध, आयतन, धातु को संस्कृत-लक्षण कहा जाता है। 'संस्कृत-लक्षण' का अर्थ है उत्पाद, स्थिति, भंग का समाहार। अब प्रश्न है कि संस्कृत-लक्षण का उत्पाद स्वयं संस्कृत-लक्षण है या कि असंस्कृत-लक्षण ? यदि संस्कृत कहें तो उसे स्वयं भी त्रिलक्षणी होना चाहिए क्योंकि त्रिलक्षणी से सब संस्कृत धर्मों का अव्यभिचार है, इस प्रकार उत्पाद को त्रिलक्षणी ही होना चाहिए। किन्तु तब वह लक्षण नहीं रह कर लक्ष्य हो जाएगा।

2. दूसरा प्रश्न है कि ये लक्षण व्यस्त हैं या समस्त ? ये व्यस्त नहीं हो सकते क्योंकि तब एक काल में तीनों के न रहने से त्रिलक्षणी नहीं होगी, और समस्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही क्षण में इनकी विद्यमानता असम्भव है।

3. संस्कृत-लक्षण स्वयं संस्कृत नहीं हो सकते, क्योंकि यदि उत्पादन का उत्पाद मानें तो अनवस्था दोष होगा।

1. प्रथम का उत्तर यह है कि उत्पाद संस्कृत-लक्षणों को लक्षित करने वाले तीन लक्षणों में से एक है, इस प्रकार वह त्रिलक्षणात्मक लक्ष्य नहीं हो सकता, परिणामतः वह इस अर्थ में संस्कृत भी नहीं हो सकता, किन्तु तब वह संस्कृत से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि वह संस्कृत धर्म का एक लक्षण है। नागार्जुन का यह प्रश्न ऐसा ही है जैसा कोई सांख्य से प्रश्न करे कि सत्त्व गुण प्रकृति है या अप्रकृति ? स्वभावतः उसका उत्तर होगा कि सत्त्व प्रकृति नहीं होकर प्रकृति-गत है। अवश्य यहां यह आपत्ति हो सकती है कि त्रिगुण अनिवार्यतः समस्त हैं। किन्तु यहां प्रश्न समस्तता-व्यस्तता का नहीं है बल्कि अंशांशी सम्बन्ध का और लक्षण के लक्ष्य होने का है। इस प्रकार त्रैलक्षण्य और त्रैगुण्य में साम्य है। दूसरा प्रश्न लक्षण-लक्ष्य-भेद का है, उसमें भी वास्तव में इनमें साम्य है—संस्कृतता त्रैलक्षण्य से पृथक् कुछ नहीं है जिस प्रकार प्रकृति त्रैगुण्य से पृथक् कुछ नहीं है।

2. दूसरी आपत्ति में पहले यह अपेक्षा की गई है कि त्रिलक्षणी के तीनों लक्षण युगपद् होंगे और तब इस अपेक्षा को असंभव बताया गया है। किन्तु इस अपेक्षा के लिए क्या युक्ति है ? तीनों लक्षण एक-साथ होने पर ही त्रिलक्षणी हो इस प्रतिज्ञा के लिए कोई औचित्य नहीं है, आनुक्रमिक होने पर भी त्रिलक्षणता हो सकती है, केवल यह आवश्यक होगा कि तीनों का यह अनुक्रम घटित पूर्णतः और अनिवार्यतः हो, अर्थात् यह अनुक्रम कालिक और तार्किक दोनों होना चाहिए। किन्तु वास्तव में बौद्ध उत्पाद-स्थिति-भंग में आनुक्रमिकता के साथ एक-क्षणता भी मानते हैं और

यह इस कारण सम्भव है कि उत्पाद भंग में और भंग उत्पाद में निरन्तर लय होता है और स्थिति कोई वास्तविक काल या वास्तविक अवस्था नहीं होकर उत्पाद और भंग के बीच केवल एक अवधारणात्मक व्यवधान की वाचक है। किन्तु इनमें एकक्षणता नहीं मानकर आनुक्रमिकता मानने पर भी समस्तता मानी जा सकती है, जैसाकि हमने ऊपर कहा। 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु' में यही अभिप्रेत है। इनके ऐसा नहीं होने में क्या युक्ति है ?

उत्पद्यमान के उत्पाद का निषेध

इस निषेध के लिए आचार्य निम्न पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं : उत्पाद उत्पद्यमान की उत्पत्ति करता है क्योंकि घटोत्पत्ति-क्रिया की अपेक्षा से घट की उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। इसके विरुद्ध वे कहते हैं—

"जब उत्पाद के पूर्व कोई अनुत्पन्न घट नहीं है तो उसकी उत्पत्ति-क्रिया की अपेक्षा करके उत्पाद कहना ठीक नहीं।" अपनी इस युक्ति का वे पूर्वपक्ष की ओर से उत्तर देते हैं कि, "यद्यपि उत्पाद के पूर्व घट नहीं है तथापि घट उत्पन्न होकर घट-संज्ञा का लाभ करेगा।" इसके प्रतिवाद में आचार्य कहते हैं—"ऐसा नहीं है, क्योंकि जब उत्पाद-क्रिया प्रवृत्त होती है तो उस समय का वर्तमान पदार्थ घट-संज्ञा-लाभ करता है, किन्तु जब भाव अनागत है तो उससे क्रिया का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा और परिणामतः तद्विषयक क्रिया की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकेगी। तब कौन घट उत्पन्न होकर घट-संज्ञा-लाभ करेगा ? क्रिया के अघट के आश्रित होने के लिए निश्चित करना होगा कि यह अघट क्या है ? यह पट है या अभावमात्रता है ? यदि प्रथम है तो समस्या दुहरी हो जाएगी। एक तो जो समस्याएं घट की उत्पत्ति को लेकर हैं वे ज्यों की त्यों पट की उत्पत्ति को लेकर होंगी और दूसरी समस्या होगी कि उत्पद्यमान पट उत्पन्न होकर घट कैसे हो जाएगा ?"

आचार्य यहां आगे प्रश्न करते हैं—"आपके मत से उत्पद्यमान पदार्थ को उत्पाद उत्पादित करता है, किन्तु तब प्रश्न होगा कि इस उत्पाद को दूसरा कौन उत्पाद उत्पन्न करेगा ? यदि एक उत्पाद को उत्पन्न करने के लिए दूसरे उत्पाद की अपेक्षा है तो अनवस्था-दोष होगा, यदि उत्पाद स्वतः उत्पन्न हो जाता है तब सभी कुछ स्वयं क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ?" इस युक्ति को आचार्य और आगे बढ़ाते हैं—वे कहते हैं, "उत्पाद का विद्यमान से सम्बन्ध वृथा है क्योंकि वह तो पहले से ही उत्पन्न है, अनागत से उसका सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि जो है ही नहीं उससे सम्बन्ध कैसा ? और तीसरी कोई कोटि ही नहीं है, तब उत्पत्ति कैसे होगी ? क्या स्वतः होगी ? यदि यह मानें तो अव्यवस्था होगी क्योंकि तब घट के बजाय पट और पट के बजाय घट उत्पन्न हो जाएगा। फिर उत्पाद को भी उत्पन्न होना चाहिए, उसके लिए अन्य उत्पादक उत्पाद की अपेक्षा होगी। किन्तु ऐसा मानने पर

अनवस्था होगी। यदि कहें कि उत्पाद अपना और पर का दोनों का उत्पाद करता है जैसे प्रकाश अपना और पर का दोनों का प्रकाश करता है, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि प्रकाश अपना या पर का किसी का भी प्रकाश नहीं करता क्योंकि प्रकाश तमोनाश है। प्रकाश तमसाच्छादित हो तब अपने से प्रकाशित हो। पर को यह इसलिए प्रकाशित नहीं कर सकता क्योंकि पराच्छादक तम प्रकाश-देश में नहीं रहता जो उससे प्रकाश का सम्पर्क हो। इसलिए यह उपमा असिद्ध है। जहां तक उत्पाद की स्वोत्पादकता का प्रश्न है वहां यह भी प्रश्न होगा कि उत्पाद उत्पन्न होकर अपना उत्पाद करता है या अनुत्पन्न रह कर ही ? उत्पन्न उत्पाद को अपर से क्या प्रयोजन ? अनुत्पन्न उत्पाद अपना उत्पाद करेगा कैसे ?"

यहां प्रथम आक्षेप है कि "उत्पाद का अभाव से कैसे सम्बन्ध होगा ?" यहां आचार्य से स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि उत्पाद के वस्तु से सम्बन्धित होने का क्या अर्थ है ? उत्पाद वस्तु का होता है, वस्तु अनस्तित्व से अस्तित्व में आती है तब उसे उत्पाद कहा जाता है। यहां 'वस्तु का अनस्तित्व से अस्तित्व में आना' इस प्रतिपत्ति पर आक्षेप किया जा सकता है कि ऐसा कुछ 'वस्तु' नहीं हो सकता जिसका अस्तित्व नहीं हो। 'वस्तु' पद के वाच्यों में चैत्त और भौतिक दोनों को सम्मिलित कर लेने पर यह आक्षेप उचित है और तब कहा जा सकता है कि वस्तु के घटित होने का प्रथम क्षण उसका अस्तित्व में आना है और यही उसका उत्पाद है। इस प्रकार उत्पाद स्वयं कोई वस्तु या क्रिया नहीं है। जैसे मन में किसी विचार, कल्पना, भावना का घटित होना उसका अस्तित्व में आना है और भौतिक वस्तु-विषयक भावना का भौतिक रूप में घटित होना भौतिक वस्तु का अस्तित्व में आना है, यही उनका उत्पाद है। अवस्तुत्व में, अभाव-मात्रता में, वस्तु की उत्पत्ति कैसे होती है, यह एक बहुत गुह्य रहस्य है, किन्तु यह प्रश्न यहां हमारे लिए विचारणीय नहीं है। यहां विचारणीय केवल यह है कि उत्पाद के वस्तु से अथवा उसके अभाव से संबंध की बात कोटिभ्रम है। नागार्जुन कहते हैं, "जब उत्पादन-क्रिया प्रवृत्त होती है तो उस समय का वर्तमान पदार्थ घट-संज्ञा-लाभ करता है किंतु जब भाव अनागत है तो उससे क्रिया का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा।" इस कथन में वास्तव में कुंभकार द्वारा घट-निर्माण का निदर्श सम्मुख है और तब उसमें अनावश्यक रूप से समस्या प्रस्तुत की जा रही है। कुंभकार की चाक-क्रिया उस समय के वर्तमान पदार्थ : मिट्टी : में प्रवृत्त होती है और वह पदार्थ घट-संज्ञा-लाभ करता है। तब इसमें क्या समस्या है ? नागार्जुन समस्या उठाते हैं कि "किन्तु भाव-घट तो अनागत है तब उससे क्रिया का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?" इसका उत्तर है कि यह सम्बन्ध होना अपेक्षित ही नहीं है क्योंकि यह क्रिया है ही इसलिए कि घट को अस्तित्व में लाना है। इसलिए उत्पाद-क्रिया का सम्बन्ध उत्पाद्य वस्तु से यह है कि उस वस्तु के उत्पन्न हो जाने पर वह अवसित हो जाती है। किन्तु सब उत्पत्तियों

को उत्पाद-क्रिया-मूलक भी नहीं कहा जा सकता, उदाहरणतः घट-कल्पना और घट-निर्माणेच्छा की उत्पत्ति को उत्पाद-क्रिया-मूलक नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, जहां उत्पत्ति उत्पाद-क्रिया-मूलक है वहां क्रिया का सम्बन्ध कल्पना, इच्छा से एक होता है, उपकरणों से दूसरा और उत्पाद्य वस्तु से तीसरा, इनमें तीसरा सम्बन्ध अनागत वस्तु से विगत और वर्तमान कल्पना के माध्यम से होता है और वह यह होता है कि क्रिया वस्तु की उत्पत्ति के साथ अवसित हो जाती है।

नागार्जुन दूसरी आपत्ति इस प्रश्न के साथ उठाते हैं कि "उत्पाद कैसे उत्पन्न होता है? परतः या स्वतः? यदि परतः तो अनवस्था-दोष होगा और स्वतः तो अव्यवस्था होगी।" किंतु परतः उत्पाद कहने से अनवस्था दोष क्यों होगा? इसका कारण यह नहीं है कि यदि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति अन्य से मानी जाय तो फिर हम कहीं रुक नहीं पाएंगे : घट की उत्पत्ति कुम्हार और मिट्टी से, कुम्हार और मिट्टी की अपने उत्पादकों से, उनकी अन्य उत्पादकों से···आदि : क्योंकि इससे घट की उत्पत्ति की व्याख्या में कोई बाधा नहीं आती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक उत्पन्न वस्तु का जैसे उत्पाद के साथ योग होता है उसी प्रकार उत्पाद का भी अन्य उत्पाद के साथ योग होना उत्पाद का परतः उत्पाद है और अन्य उत्पाद से योग नहीं होना उत्पाद का स्वतः उत्पाद। इस प्रकार नागार्जुन का प्रश्न है कि, "उत्पाद किसी दूसरे उत्पाद से उत्पन्न होता है कि स्वतः? यदि हम प्रथम विकल्प स्वीकार करते हैं तो इस उत्पाद के उत्पादक उत्पाद को अपने उत्पाद के उत्पादक उत्पाद की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनंत क्रम आपन्न होगा, यदि उत्पाद की उत्पत्ति अन्य वस्तुओं के उत्पाद के विपरीत स्वतः ही होती है तो दूसरी सब वस्तुएं भी स्वतः ही उत्पन्न हो सकती हैं।"

उत्पाद की उत्पत्ति की बात की भ्रांतता पर हम ऊपर विचार कर आये हैं, उसके बाद प्रकाश के आत्म-प्रकाशन से इसकी उपमा पर विचार अनावश्यक हो जाता है। किन्तु नागार्जुन ने प्रकाश के स्वतःप्रकाशन के प्रश्न पर यहां पृथक् विचार भी किया है और इस प्रश्न पर अन्य दार्शनिकों ने भी पर्याप्त विचार किया है इसलिए यहां यह स्वतंत्र रूप से भी विचारणीय है। नागार्जुन के अनुसार "यदि कहें कि उत्पाद अपना और पर का दोनों का उत्पाद करता है जैसे प्रकाश अपना और पर का दोनों का प्रकाशन करता है तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि प्रकाश अपना और पर का किसी का प्रकाशन नहीं करता, क्योंकि प्रकाश तमोनाश है। प्रकाश तमसाच्छादित हो तब अपने से प्रकाशित हो। प्रकाश पर को इसलिए नहीं प्रकाशित कर सकता क्योंकि पराच्छादक तम प्रकाश-देश में नहीं रहता जो उससे प्रकाश का सम्पर्क हो। इसलिए यह उपमा असिद्ध है।"

यहां "प्रकाश द्वारा अपना प्रकाशन" में प्रकाश का द्वित्व कल्पित है जो कि 'स्वप्रकाशत्व' पद में आवश्यक रूप से नहीं है। "प्रकाश अपने को प्रकाशित करता

है" कहना ऐसा ही है जैसा यह कहना कि "तम अपने को आच्छादित करता है", और ये दोनों कथन ऐसे ही हैं जैसे यह कहना कि वृक्ष अपने को वृक्षायित करता है, ध्वनि अपने को ध्वनित करती है आदि। 'प्रकाशन' दृश्यकरण करना है। 'घट दिखायी देता है' का अर्थ है "घट से प्रकाश-किरणें चलकर चक्षु का स्पर्श करती हैं" अथवा 'चक्षुरिन्द्रिय से प्रकाश-किरणें चल कर घट को वलयित करती हैं।" इस प्रकार 'दिखायी देना' 'प्रकाशान्वित होना' ही है। अब 'प्रकाश का प्रकाशन' भी प्रकाश का दिखायी देना ही है, और कुछ नहीं। इस प्रकार वास्तव में सब दिखायी देना समान रूप से प्रकाशित होना है। और सब प्रकाशनों में कोई आधार ही प्रकाशित होता है, प्रकाश प्रकाशित नहीं होता। किन्तु यदि यह मान ही लें कि दीपक की लौ स्वप्रकाशित प्रकाश है तो भी इसमें प्रकाश द्वारा अपने पर प्रकाशन-क्रिया घटित करने की बात अयुक्त होगी, उस अवस्था में 'प्रकाश घटित होता है' यह कहना ही उपयुक्त होगा। अथवा यह कह सकते हैं कि 'प्रकाश प्रकशमान है' जो यह कहने के बराबर ही है कि 'प्रकाश प्रकाश है।'

प्रकाश के आत्मप्रकाशन का आचार्य भी निषेध करते हैं किन्तु ऐसे कि उसमें उसका ही मूलोच्छेद हो जाता है। अब प्रकाश है यह स्पष्ट है, यह भी स्पष्ट है कि प्रकाश होने पर वस्तुएं दिखायी देती हैं और उसके अभाव में वे दिखायी नहीं देतीं। तब दार्शनिक के लिए इसमें कोई संदेह उठाने के लिए कहां अवकाश है? उसके लिए अवकाश इस अनुभव या तथ्य का स्वरूप बोधगम्य बनाने में है। किन्तु यदि कोई दार्शनिक इस अनुभव का ही निषेध करता है तो वह उसे दिये गए आतिथ्य का निरादर करता है। इस पर कहा जा सकता है कि किसी अनुभव का निषेध व्यापक या उच्चतर अनुभव के स्वरूप के उद्घाटन में सहायक हो सकता है और निश्चय ही यह उद्घाटन महत्तर अर्थ को प्रकट करता है, जैसे दार्शनिकों द्वारा भौतिक के अस्तित्व में सन्देह ज्ञान और सत् के स्वरूप को निरपेक्षतः समझने के प्रयोजन को सिद्ध करता है। वास्तव में नागार्जुन का प्रयोजन भी यही है। किन्तु जैसाकि अभी हम देखेंगे, उनकी यह युक्ति उनकी पिछली युक्तियों से भी अधिक अयुक्त है। उनके अनुसार, "प्रकाश अपना और पर का किसी का प्रकाशन नहीं करता।" क्यों? क्योंकि "प्रकाश तमोनाश है। उसके तमोनाशक होने से यह आपादित होता है कि वह आत्म-प्रकाशन तभी कर सकता है यदि वह पहले तमसाच्छादित हो।" किन्तु तब पर के प्रकाशन में क्या कठिनाई है? इस पर उनका उत्तर है कि "पर का प्रकाशन वह इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि पराच्छादक तम प्रकाश-देश में नहीं रहता और इससे प्रकाश का उससे सम्पर्क ही नहीं हो पाता।"

यहां नागार्जुन की युक्ति की संरचना देखना उनकी सब युक्तियों के स्वरूप को समझने में सहायक हो सकता है। वे 'प्रकाश' को 'तमोनाश' के रूप में

परिभाषित करते हैं। अथवा कहें इसे पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अब, इस परिभाषा से यह आपादित होता है कि जहां-जहां प्रकाश है वहां-वहां तम विनष्ट है। अथवा, "प्रकाश तमोनाश है, यहां प्रकाश है, इसलिए यहां तम विनष्ट है।" किन्तु नागार्जुन 'यहां प्रकाश है' अथवा 'जहां-जहां प्रकाश है' प्रतिज्ञप्ति को ही स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, "आपके अनुसार प्रकाश की परिभाषा तमोनाश है, किन्तु प्रकाश तम के सम्पर्क में ही नहीं आ सकता इसलिए प्रकाश हो ही नहीं सकता।" किन्तु यह परिभाषा की अयुक्तता से परिभाष्य की सत्ता का निषेध करना है।

किन्तु 'प्रकाश' को 'तमोनाश' से परिभाषित करने का ही क्या औचित्य है? क्यों नहीं तम को 'प्रकाशाभाव' इस प्रकार परिभाषित किया जाए? ये दोनों परिभाषाएं इस बात में तुल्यबल हैं कि दोनों समान रूप से अयुक्त हैं। वास्तव में प्रकाश की पर-प्रकाशन में अशक्यता के लिए युक्ति में तम और प्रकाश की स्वतंत्र पदार्थता पूर्वगृहीत है, और इनके स्वतंत्र होने पर ही इनकी एक देश में उपस्थिति की समस्या उत्पन्न होती है।

तम और प्रकाश तथा इनका सम्बन्ध हमारे प्राचीन दार्शनिकों के लिए गहरी रुचि का विषय रहा है। इसका एक शुद्ध भौतिक पक्ष है और वह भौतिक विज्ञान का विषय है। दर्शन के लिए इसकी रोचकता वास्तव में इसकी ज्ञान और अज्ञान से अनुरूपता को लेकर है। ज्ञान को अनवगत विषय कैसे अवगत होता है, यह एक बहुत जटिल प्रश्न है, संभवतः बहुत गुह्य भी। इसी प्रकार, ज्ञान में आत्मावगमन भी होता है, उसका क्या स्वरूप है यह भी एक अत्यन्त रोचक प्रश्न है, विशेषतः इसलिए कि इसके साथ यह प्रश्न भी जुड़ा है कि क्या 'अनवगत आत्म' इस पद का भी कोई वाच्य हो सकता है? प्रकाश और अन्धकार के परस्पर सम्बन्ध में और ज्ञान तथा अज्ञान के परस्पर सम्बन्ध में इस दृष्टि से एक अनुरूपता है किन्तु उतनी नहीं जितनी हमारे पिछले दर्शन में देखी गई है। यह अनुरूपता ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ व्यामिश्र के कारण देखी गई है। व्यामिश्र ज्ञान और संवित्ति में भेद नहीं देखने के कारण है। संवित्ति चित्त का निर्विषयतया घटित होना मात्र है जबकि ज्ञान विषयावगमनात्मक होता है। संवित्ति ज्ञान के बिना भी हो सकती है, जैसे आरंभिक शैशव में पीड़ा या सुखानुभूति, किन्तु ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए, अथवा कहें व्यक्तिचित्त में प्रकट होने के लिए, अनिवार्यतः संवित्ति का अपेक्षी होता है। उदाहरणतः 'यह घट है' ज्ञान संवित्ति-पूर्वक होता है और '$25/5=5$' संवित्ति के माध्यम से व्यक्त या अवगत। इनमें अंतर यह है कि व्यक्ति-घट का अस्तित्व भौतिक रूप-स्कन्ध है जबकि $25/5=5$ का अस्तित्व न भौतिक है, न चैतसिक, यह अलौकिक है। इस कारण घट संवेद में प्रदत्त होकर अध्यवसाय का विषय बनता है जबकि गणित-विषय आन्तर या बाह्य संवेद में प्रदत्त

होकर अध्यवसित नहीं होता बल्कि आंतर संवेद इस अध्यवसाय के संविदित होने के लिए एक माध्यम बनता है। अब स्वप्रकाशत्व संवित्ति का धर्म है जबकि आत्मावगमन ज्ञान का। यह आत्मावगमन भी दो प्रकार का हो सकता है, एक "ज्ञाताहं" रूप, जिसमें अस्मिता ही प्रत्यक्ष-विषय होती है और दूसरा " 'यह घट है' यह अध्यवसाय प्रत्यक्ष-विषयक है और '25/5 = 5' यह अध्यवसाय गणित-विषयक है" रूप, जिसमें चित्त बुद्धि के आकार में प्रत्यङ्मुख होता है। यह "ज्ञाताहं" रूप आत्मावगमन भी घटानुरूप ही संवित्ति-मूलक ही होता है : प्रथम में घटत्व भौतिक अस्तित्व : रूप-वेदनाः में आविर्भूत होता है और दूसरे में अहंता चैतसिक अस्तित्व : आंतर संवेदः में। किन्तु असंवित् मूलक ज्ञान में, जैसे गणित-विषय के, संवित्ति अनिवार्य होने पर भी स्वयं विषय की सत्ता के लिए अवान्तर होती है। अब प्रकाश से अनुरूपता वास्तव में संवित्ति की है, ज्ञान की नहीं, क्योंकि जिस प्रकार संवित्ति घटित होने पर रूप या विचार प्रकट होता है और हट जाने पर, जैसे घट के दृष्टि से परे हट जाने पर अथवा विचार के घटित नहीं होने, विचारित नहीं होने, पर वह अप्रकट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाश से संपर्क होने पर घट प्रकट होता है और उसके हट जाने पर वह अप्रकट हो जाता है। किन्तु इसकी संवित्ति से भी अनुरूपता केवल यहीं तक है, क्योंकि संवित्ति ज्ञान को प्रकट करने के साथ स्वयं भी चैतसिक रूप से विदित होती है जिसके कारण वास्तव में इसका नाम 'संवित' है, प्रकाश में वैसा कुछ नहीं होता। यह वास्तव में केवल संवित्ति की ही विलक्षणता है, क्योंकि यह ज्ञान को भी उपलब्ध नहीं है। किन्तु ज्ञान में भी स्वप्रकाशत्व है जिसका रूप दूसरा है। इसे हमने ऊपर[1] चित्त की प्रत्यङ्मुखता कहा है। इसमें चित्त विषयों का उनके अपने तत्त्व में साक्षात्कार करता है जो साथ ही उसका भी तत्त्व होता है। इस प्रकार नागार्जुन की प्रकाश-विषयक युक्ति भी नितान्त भ्रांतिपूर्ण है।

1. इस पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य : मनुष्य और जगत् में 'जगच्चैतन्य' तथा 'प्रत्यङ्-मुख चैतन्य' अध्याय तथा सत्ताविषयक अन्वीक्षा में 'दर्शन के आधार' और 'ज्ञातृत्व' अध्याय।

9. पूर्व-परीक्षा

इस प्रकरण में नागार्जुन दर्शन, श्रवणादि वेदनाओं का और उनके उपादाता आत्मा का निषेध करते है। द्रष्टव्य है कि अन्य बौद्ध, स्वयं बुद्ध भी, दर्शन-श्रवणादि वेदनाओं का निषेध नहीं करते; केवल इनके अधिष्ठाता आत्मा का निषेध करते हैं। वास्तव में बुद्ध के लिए यह कहा जा सकता है कि वे पारमार्थिक रूप से दर्शन-श्रवणादि वेदनाओं को भी अतात्त्विक ही मानते हैं, क्योंकि वे भव-चक्र को अविद्यामूलक मानते हैं, और वेदनाएं भव-चक्र ही हैं। किन्तु नागार्जुन के निषेध इस प्रकार के नहीं हैं, वे व्यवहारगत तर्क-कोटियों के अनुसार ही वस्तुओं का निषेध-प्रतिपादन करते हैं। चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा के अनुसार यहां नागार्जुन को सम्मितीय बौद्धों के मत का खंडन अभिप्रेत है जो दर्शन-श्रवणादि उपादानों (इन्द्रियों) के होने से उनके उपादातृत्व को, अर्थात् आत्मा को, स्वीकार करना आवश्यक मानते हैं। किन्तु उपादानों से उपादाता के अस्तित्व के निगमन की अयुक्तता केवल तभी दिखायी जा सकती है यदि उपादानों का अस्तित्व स्वीकार किया जाए न कि उपादानों के ही अस्तित्व का निषेध करने से। बुद्ध और अन्य बौद्धों ने यही किया है। नागार्जुन के अनुसार, दर्शन-श्रवणादि का भाव (सत्त्व) ही असिद्ध है तब उनके उपादाता के भाव की सिद्धि क्या होगी? इस प्रतिपादन के लिए वे पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं: "यदि पुद्गल को दर्शन-श्रवणादि से पहले स्वीकार नहीं करें तो दर्शनादि का उपादान कौन करेगा? इसलिए पुद्गल दर्शन-श्रवणादि से प्राक् है।" इसके उत्तर में नागार्जुन कहते हैं: "बीज-संज्ञक कारण से अंकुर-संज्ञक कार्य अभिव्यक्त होता है और इस अंकुर-संज्ञक कार्य से बीज-संज्ञक कारण अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यदि किसी दर्शनादि संज्ञक उपादान से कुछ आत्मस्वभाव अभिव्यक्त होता है: कि ये दर्शनादि उपादान-स्वरूप हैं इसलिए इनके किसी उपादाता का होना आवश्यक है: तब इन उपादान-उपादाता में बीजांकुरवत् परस्पर सापेक्षता होगी। यदि उपादाता के बिना ही दर्शनादिक उपादान की सिद्धि मानेंगे तो इनका निराश्रयत्व होगा और ये असत् होंगे। इसलिए दोनों ही असिद्ध हैं। इस प्रकार यह कहना सही नहीं है कि उपादाता आत्मा दर्शनादि से पृथक् अवस्थित है।"

अब, यहां प्रथम तो बीजांकुर में कारण-कार्यता मानने पर उनमें सत्तात्मक सापेक्षता मानना अयुक्त होगा, क्योंकि कारण से कार्य घटित तो होता है किन्तु उसके घटित नहीं होने पर भी कारण-घटना या वस्तु स्वयं में तो रहती या होती ही है। जैसे बीज से अंकुर हो तो हो, नहीं हो तो भी बीज की सत्ता असिद्ध नहीं होगी। अवश्य बीजांकुर में परस्परता है: क्योंकि वे दोनों परस्पर कारण और

परस्पर कार्य होते हैं : बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होने से : किन्तु वह परस्परता यहां विवक्षित नहीं है। दूसरे, उपादाता और उपादान का सम्बन्ध कारण-कार्यता का नहीं है। यदि कारण-कार्य में सापेक्षता मान भी लें तो भी उपादाता और उपादान में वैसी सापेक्षता नहीं बनती। उपादान में उपादाता की सत्ता तर्कतः पूर्वापेक्षित है किन्तु उपादान उपादाता को अभिव्यक्त करता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, अवश्य यदि कुछ उपादान हो तभी कुछ उपादाता कहा जाएगा, किन्तु उपादाता वस्तुतः उपादानसापेक्ष नहीं होता, वह केवल अपने उपादातृत्व में उपादान-सापेक्ष कहा जा सकता है। अर्थात् कुछ उपादान को धारण करने से ही उपादाता बनता है, उसके बिना नहीं। किन्तु यह बात उपादाता को उपादानाश्रित नहीं बनाती, केवल उपादान को उपादाताश्रित बनाती है। उदाहरणतः आत्मा के होने पर ही इन्द्रियादि का करणत्व है किन्तु आत्मा के होने के लिए इन्द्रियादि करणों की अपेक्षा अनिवार्य नहीं है। आगे जो आचार्य कहते हैं कि उपादाता के बिना उपादान निराश्रय और इस प्रकार असत् होंगे, वह तो वादी को स्वीकार ही है, किन्तु इससे यह आपादित नहीं होता कि उपादाता भी उपादान-सापेक्ष है।

किन्तु मान लें कि दोनों सापेक्ष हैं, तब दोनों असिद्ध कैसे हैं? क्योंकि वादी यह कब कह रहा है कि दर्शनादि उपादान उपादाता के बिना भी होते हैं?

10. अग्नीन्धन-परीक्षा

अग्नि-इंधन-सम्बन्ध का निषेध करने के लिए नागार्जुन निम्न प्रकार से प्रश्न के साथ आरम्भ करते हैं :

1. अग्नि और इंधन की सत्ता परस्पर अभिन्न होने से है या भिन्न होने से ? दाह्य इंधन है, दाहक अग्नि है। यदि इन्हें अभिन्न मानें तो कर्त्ता और कर्म को अभिन्न मानना होगा, जो अनुचित है। कुंभ और कुंभकार में अभेद नहीं माना जा सकता। यदि इन्हें भिन्न मानें तो अग्नि-इंधन घट-पट के समान निरपेक्ष होंगे, यह भी अनुचित है।

2. समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत करने के बाद वे इस पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—अग्नि का अस्तित्व इंधन से भिन्न मानने पर भी इनमें सापेक्षता मानी जा सकती है : इंधन वह है जो ज्वाला से परिगत है और अग्नि वह है जो अपने अस्तित्व के लिए इंधन पर आश्रित है। इस पर आचार्य आपत्ति करते हैं कि यदि ज्वाला से परिगत दाह्य इंधन है तो इंधन किससे दग्ध होगा ? क्योंकि अग्नि इंधन से अतिरिक्त नहीं है और इंधन पूर्वतः ही अग्नि से परिगत है। ऐसी अवस्था में उस इंधन का, जो पूर्वतः ही अग्नि-परिगत है, अन्य कौन अग्नि दाह करेगी ?

3. इस पूर्वपक्ष पर कि परस्पर सापेक्ष की भी स्वरूप-सिद्धि होती है, नागार्जुन प्रश्न उठाते हैं कि अग्नि और इन्धन के कर्त्ता और कर्म होने पर इनमें प्रथम कौन है ? यदि इंधन पूर्व हो तो उसके अग्नि-निरपेक्ष होने से उसमें इध्यमानता नहीं होगी और परिणामतः उसमें इंधनत्व भी नहीं होगा, अन्यथा समस्त तृणादि इन्धन होंगे। यदि अग्नि को पूर्व मानें तो यह असंभव होगा और अग्नि निर्हेतुक भी होगी।

4. इसके आगे वे कहते हैं—"यदि इंधन को पूर्व और अग्नि को पश्चात् मान भी लें और कहें कि इंधन की अपेक्षा करके अग्नि होती है, तो सिद्ध-साधनता दोष होगा, क्योंकि विद्यमान पदार्थ ही अन्य की अपेक्षा कर सकता है और विद्यमान की अपेक्षा से सिद्धि में प्रयोजन ही क्या है ?

5. पूर्वपक्ष के अग्नीन्धन का यौगपद्य मानने पर आचार्य आक्षेप करते हैं कि यदि अग्नि इंधन की अपेक्षा से सिद्ध होती है और इंधन अग्नि की अपेक्षा से, तो फिर कोई भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि किसे किसकी अपेक्षा से सिद्ध करेंगे ?

6. जहां तक अग्नि के इंधन से जलने की, और इस प्रकार दोनों के अस्तित्व की, प्रतीति का प्रश्न है, आचार्य के अनुसार वह मिथ्या है क्योंकि इंधन में यदि अग्नि हो तो वह इंधन को जलाये, किन्तु वह असंभव है, इंधन के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से अग्नि का आगमन देखा नहीं जाता, क्योंकि निरिन्धन अग्नि अहेतुक होगी।

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे :

1. प्रतिज्ञा में 'दाहक', 'दाह्य' पदों का वैयाकरणिक रूप कर्त्ता और कर्म का होने से नागार्जुन अग्नि और इंधन को वास्तविक कर्त्ता और कर्म : 'कुंभकार' और 'कुंभ' के समानः मान लेते हैं, जो कि अयुक्त है। वास्तविकता के अनुसार अग्नि-इंधन सम्बन्ध-विषयक वाक्य-रचना इस प्रकार होगी—'अग्नि से इंधन जलता है', अथवा 'इंधन जल रहा है' अथवा 'इन्धन अग्न्यायित है।' इनमें प्रथम दो वाक्य सम्बन्धित वस्तुस्थिति-विषयक प्रचलित प्रयोग भी हैं, किन्तु अन्तिम नागार्जुन की सम्यक्ता की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए रचा गया है। यह अग्नि-इंधन को भिन्न मानने पर की गई आपत्ति का भी निवारण करता है, क्योंकि इसके अनुसार अग्नि-इंधन इस प्रकार भिन्न नहीं हैं कि निरपेक्ष हो सकें।

2. दूसरी युक्ति भी कर्त्ता-कर्मपरक इसी वाक्य-रचना के और आगे दुरुपयोग पर आधारित है। वे 'अग्नि-परिगत इंधन' को कर्म बनाकर कर्तृ-पद के लिए एक और अग्नि की मांग करते हैं। किन्तु दूसरी कोई अग्नि है नहीं, तब वे प्रश्न करते हैं कि "इंधन को दग्ध कौन अग्नि करेगा?" स्पष्टतः कोई नहीं करेगा, इसलिए उनके अनुसार न अग्नि की सत्ता है और न इंधन की। यदि पूछा जाय कि वह अग्नि जिससे इंधन परिगत है इंधन को क्यों नहीं जला सकती? तो उनका उत्तर होगा कि उसके इंधन न होने से वह कर्त्ता नहीं हो सकती। किन्तु द्रष्टव्य है कि यहां वे पूर्वपक्ष की युक्ति का समाधान नहीं कर उससे बच रहे हैं, क्योंकि पूर्वपक्ष यहां अग्नि-इंधन में कर्त्ता-कर्म-सम्बन्ध का नहीं, सापेक्षता-सम्बन्ध का है।

3. यहां नागार्जुन पूछते हैं कि अग्नि और इंधन के कर्म और कर्त्ता होने से इनमें प्रथम कौन है? इसका उत्तर होगा कि ये कर्त्ता और कर्म ही नहीं हैं इसलिए यह प्रश्न व्यर्थ है। अब यदि इन्हें कर्त्ता और कर्म मान ही लें तो कर्त्ता और कर्म को वे जिस प्रकार परिभाषित करते हैं उसके अनुसार उनमें कोई भी प्रथम नहीं होगा, क्योंकि कर्त्ता वह है जो क्रिया-निष्पादन की प्रक्रिया में है और कर्म वह है जिस पर क्रिया घटित हो रही है। यदि ये दोनों युगपद् नहीं होंगे तो क्रिया-निष्पत्ति ही नहीं हो सकती और परिणामतः कोई कर्त्ता-कर्म भी नहीं हो सकता। इस प्रकार क्रिया कर्त्ता-कर्म को सम्बन्धित करती है और अग्नि-इंधन के बीच यह सम्बन्ध इस प्रकार से है कि कर्त्ता-कर्म युगपद् हों।

यहां कोई पौर्वापर्य-विषयक इस प्रश्न को कालात्मक के बजाय अवधारणात्मक के रूप में विकल्पित कर सकता है, यद्यपि नागार्जुन का प्रश्न अवधारणात्मक पौर्वापर्य-विषयक नहीं होकर कालात्मक ही है। किन्तु अवधारणात्मक रूप से विकल्पित करने पर तो दोनों में पौर्वापर्य का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि दोनों एक-दूसरे को पूर्वकल्पित करते हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि आप परिभाषया इंधन उसी को कहते हैं जो इध्यमान

है तो उसका अग्नि से पूर्व या पश्चात् होना सम्भव ही कैसे है? द्रष्टव्य है कि नागार्जुन पूर्वपक्ष की अग्नि-इंधन की परस्पर सापेक्षता का कोई उत्तर नहीं दे रहे हैं और उसे पूर्व-अपर मानने की अवस्था में उत्पन्न होने वाला दोष दिखा रहे हैं, जबकि पूर्वपक्ष यह कह ही नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त, वे इस पूर्वापरता के साथ निरपेक्षता को भी जोड़ रहे हैं जिसका पूर्वपक्ष में स्पष्टतः अस्वीकार है। वास्तव में पूर्वापरता के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि ये घटनाएं परस्पर निरपेक्ष हों : कारण-कार्य में पूर्वापरता के साथ सापेक्षता होती ही है। इसके अतिरिक्त, पूर्वापरता स्वयं भी सापेक्षता-सम्बन्ध है, यद्यपि न वह पूर्वपक्ष को अभिप्रेत है और न वह 'अग्नि' और 'इंधन' की नागार्जुन द्वारा गृहीत तार्किक परिभाषा के अनुसार संभव है।

4. यह युक्ति और भी अयुक्त है : पहले तो आप अग्नि-इंधन में पूर्वापरता मानने की बात करते हैं और फिर कहते हैं कि अग्नि को इंधन की अपेक्षा तभी हो सकती है यदि इंधन विद्यमान हो, और यदि वह विद्यमान होगा तो सिद्ध-साधन-दोष होगा। किन्तु तब इसका क्या अर्थ हुआ कि "यदि अग्नि-इंधन में पूर्वापार सम्बन्ध मान भी लें...", क्योंकि यदि आप इनमें यह सम्बन्ध मानते हैं तो अपर पूर्व के साथ युगपद् नहीं हो सकेगा।

5. इस युक्ति में आचार्य पूर्वपक्ष की सापेक्षता की प्रतिपत्ति का खंडन करते हैं, किन्तु यह खंडन भी स्पष्टतः अतिचार मात्र है। यदि "ईंधन वही है जो इद्धमान है और अग्नि वही है जो इन्धन की इद्धमानता है" तो यह प्रश्न ही कैसे उठता है कि कौन किसकी अपेक्षा कर सिद्ध होता है? क्योंकि दोनों ही परस्पर की अपेक्षा कर सिद्ध होंगे और यही पूर्वपक्ष की प्रतिपत्ति है, क्योंकि अग्नि-इंधन में और किसी प्रकार यौगपद्य बन ही नहीं सकता। किन्तु वास्तव में इस पूर्वपक्ष में अग्नि-इंधन पृथक् भी कल्पित नहीं हैं, जबकि जहां दो वस्तुएं पृथक् भी होती हैं वहां भी उनमें सम्बन्ध सापेक्षता-विधायक हो सकता है। उदाहरणतः दो घट दाहिने-बायें सम्बन्ध में स्थापित किये जाने पर परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं : क ख के तभी दायें हो सकता है यदि ख क के बायें हो। इसी प्रकार निर्माता-निर्मित का सम्बन्ध है जो दायें-बायें की तुलना में अधिक निकटता का है—कोई तभी कुंभ-कार हो सकता है यदि वह कुंभ का निर्माण करे, और कुछ कुंभ तभी हो सकता है यदि कोई कुंभकार हो। किन्तु कुंभ और कुंभकार दो पृथक् वस्तुएं हैं।

यहां यह विचार भी स्थाने होगा कि अग्नि-इंधन परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? अब, अग्नि और इन्धन प्रत्यक्षतः भिन्न हैं। वास्तव में इंधन इद्धमानता : ज्वलन : से नहीं ज्वलन-शक्यता से परिभाषित होता है और इंधन में अग्नि प्रकट होने पर भी दोनों पृथक् परिलक्षित होते हैं। अब, कोई कह सकता है कि अग्नि-इंधन वस्तुतः पृथक् नहीं हैं, अग्नि इंधन का केवल एक अभिव्यक्त प्रकृत गुण है जो

अभिव्यक्त होने से पहले अनभिव्यक्त रहता है। किन्तु इससे भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि गुण-गुणी के रूप में ये अवियोज्य होने पर भी पृथक् अवलोक्य होते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं है कि अग्नि सदैव इन्धनाश्रित ही होती है, कुछ अवस्थाओं में वह पृथक् भी दिखती और होती है, जैसे तड़ित रूप में : यदि इंधन की परिभाषा इतनी व्यापक नहीं बना दी जाय कि अदृश्य गैस और अणु-परमाणु भी उसमें सम्मिलित हो जाँय। यदि 'अपेक्षा कर' का अर्थ 'हेतु से' लें तो अग्नि-इन्धन में यौगपद्य का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि हेतु और फल में पूर्वापरता होना अनिवार्य ही है। यदि आप इस पूर्वापरता को कालिक नहीं मानें तो तार्किक तो मानना ही होगा।

6. आगे आचार्य अभिव्यक्ति-सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं। वे पूछते हैं, "यह अभिव्यक्ति किसकी होती है? अभिव्यक्त की या अनभिव्यक्त की? अभिव्यक्त की अभिव्यक्ति का कोई प्रयोजन नहीं है और अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी स्थिति आकाश-कुसुम के समान है। यदि कहें कि हेतु-प्रत्यय सूक्ष्म रूप से विद्यमान का ही स्थूलीकरण करते हैं तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ है कि पूर्वतः विद्यमान स्थौल्य का (चैतसिकता या भौतिकता का) ये प्रत्यय नव्योत्पादन करते हैं, इसलिए स्थौल्यापादन को भी अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। और फिर, इस युक्ति के अनुसार सूक्ष्मरूपता (अचैतसिकता और अभौतिकता) का कोई हेतु नहीं होगा, हेतु नहीं होने पर वह होगा ही नहीं तो फिर स्थूलतापादन किसका होगा? इस प्रकार इन्धन में अग्नि सर्वथा नहीं है।" तात्पर्य यह है कि व्यक्त यदि कुछ नवीन है तो यह सत्कार्यवाद की प्रतिज्ञा के विरुद्ध है, यदि यह कुछ नवीन नहीं है तो फिर कारण-कार्य-भेद नहीं होगा : क्या अग्नि इन्धन में पहले अदृश्य रूप से रहती है और फिर उपयुक्त हेतु-प्रत्ययों के द्वारा दृश्य होती है? तो नागार्जुन के अनुसार इसमें भी नव्योत्पत्ति ही है : अविद्यमान गोचरता-गुण की उत्पत्ति। इस युक्ति में एक महत्त्वपूर्ण सत्य है : 'लकड़ी में अग्नि अव्यक्त रूप से है, वही घर्षणादि से व्यक्त होती है' इसका क्या अर्थ है? अग्नि का धर्म प्रकाश और उष्णता है, ये दोनों ही लकड़ी में लक्षित नहीं होते, पीछे हेतु-प्रत्ययों के सहयोग से लक्षित होते हैं, तो यह स्पष्टतः नवीन आविर्भाव है। इस युक्ति को यदि सांख्य-सम्मत बुद्धि आदि विकारों की अभिव्यक्ति के प्रसंग में देखें तो इस आपत्ति का औचित्य और अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि 'बुद्धि' आदि को मात्र त्रैगुण्य के अनुपात-भेद के रूप में नहीं देखा जा सकता, उसमें पुरुष के भोगापवर्ग की निमित्तता ही उसका स्वरूप है और त्रैगुण्य उसका उपादान मात्र है, जैसे घट अपने उपादान (मिट्टी) से नहीं, जल-धारण-सामर्थ्य आदि प्रयोजनों से लक्षित होता है। वास्तव में वेदान्त के अजातिवाद और विवर्तवाद दोनों मानो सत्कार्यवाद के इस प्रतिवाद में निरूपित

दोष के निराकरण के ही उपाय हैं। किन्तु तब भी यह विचारणीय है कि क्या इससे इन्धन में अग्नि की अव्यक्तरूपेण विद्यमानता का निषेध होता है ? और यदि नहीं होता तो क्या इससे सत्कार्यवाद की पुष्टि होती है ?

यह प्रयोग-सम्मत है कि लकड़ी के दो खंडों के घर्षण से उनमें उष्णता उत्पन्न होती है और अधिक घर्षण से ज्वाला भी प्रकट होती है, पत्थर के दो खंडों के टकराने से यह और भी अधिक सुविधा से उत्पन्न होती है। ऐसा कैसे होता है ? इसका भूतवैज्ञानिक उत्तर हो सकता है कि इस घर्षण से प्रस्तर-रूप में संहत अणुओं में एक व्यवस्थांतरण घटित होता है और वे अग्नि-संज्ञक के रूप में संहत होते हैं। इस प्रकार प्रस्तर और अग्नि अदृश्य अणुओं की दो संहतियों का आश्रय कर चक्षु को प्रकट होने वाले रूप मात्र हैं। इस प्रकार वस्तुता केवल अणुओं की ही है जो विभिन्न व्यवस्थाओं में संहत हो सकते हैं, ये संहति-भेद ही अरणि (लकड़ी) और अग्नि इन दो रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार अरणि में अव्यक्त रूप से विद्यमान अग्नि उपयुक्त हेतु-प्रत्ययों के सहयोग से व्यक्त होती है। दूसरे शब्दों में, अरणि-रूप अणु-व्यवस्था में आंशिक रूपांतरण घटित होता है। किन्तु तब यहां आपत्ति होगी कि इसमें अव्यक्त क्या है और व्यक्त क्या है ? क्या अरणि-रूप अणु-व्यवस्था अव्यक्त और अग्निरूप अणु-व्यवस्था व्यक्त है और इनमें दूसरी पहली में लीन रहती है ? किन्तु इसका कोई अर्थ नहीं बनता। तब क्या अणु-व्यवस्था को अव्यक्त और अरणि और अग्नि को व्यक्त कहा जाय ? किन्तु क्या अरणि और अग्नि अणु-व्यवस्था के अतिरिक्त भी कुछ हैं ? यदि कहें कि अरणित्व धर्म और अग्नित्व धर्म अतिरिक्त हैं, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि ये धर्म इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य हैं, अणुगत नहीं।

इस प्रकार देखने पर अभिव्यक्तिवाद तब तक अयुक्त ही रहता है जब तक "पुरुष के भोगापवर्ग-निमित्त" का इसमें अध्याहार नहीं करते। इसका अध्याहार करने पर यह कहा जा सकता है कि भोग और अपवर्ग-निमित्तक प्रत्यय (आइडियाज़) प्राकृतिक उपादान को माध्यम बनाकर व्यक्त होते हैं।[1] किन्तु नागार्जुन की आपत्तियों का रूप यह नहीं है। इसके अतिरिक्त वे इस निषेध से जो स्थापना करते हैं, अथवा कहें निष्कर्ष निकालते हैं, उससे स्पष्ट है कि यहां उनका पूर्वपक्ष सांख्य नहीं होकर दूसरे बौद्ध मत हैं। वे कहते हैं, "जिस प्रकार अग्नि-इन्धन के बीच कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता और न उनकी अपनी सत्ता ही सिद्ध होती है उसी प्रकार आत्मा और स्कन्ध भी शून्य सिद्ध होते हैं।" किन्तु आत्मा के इस निषेध में उनका जो पूर्वपक्ष है वह वेदांत, सांख्य, गीता, यहां तक

1. सांख्य के सम्बन्ध में विस्तृत विचार के लिए द्रष्टव्य हमारी पुस्तक सत्ता-विषयक अन्वीक्षा, अध्याय 4.

कि न्याय की भी आत्मा-विषयक अवधारणा के अनुरूप नहीं है, परिणामतः इससे उनका खंडन नहीं होता। वे आत्माविषयक पूर्वपक्ष की उपादानों : स्कन्धों : के उपादाता, ग्रहीता, निष्पादक के रूप में उपपत्ति करते हैं (तत्र उपादीयते इत्युपादानं पंचोपादान स्कन्धाः । यस्तानुपदाय प्रज्ञप्यते स उपादाता, ग्रहीता, निष्पादक आत्मेत्युच्यते । अहंकार-विषयत्वादाहित उत्पादितोऽहम्मानोऽस्मिन्निति) ।[1] "वेदान्त और सांख्य का आत्मा सब निषेधों, सब प्रतिपत्तियों : शून्यता की प्रतिपत्ति सहित : में पूर्वगृहीत है और यह पूर्वगृहीतता तार्किक नहीं है, क्योंकि तर्क स्वयं इसे पूर्वगृहीत करता है। यह आत्मा प्रत्यङ्‌मुख-साक्षात्कारात्मक तत्त्व है। उदाहरणतः 'आत्मा असत् है' प्रतिज्ञप्ति में आत्मा अपना विषयकरण कर उसके निषेध में प्रतिष्ठित होता है।

1. कारिका 10.15 पर प्रसन्नपदा।

11. पूर्वापर कोटि-परीक्षा

आगे नागार्जुन पूर्वापर-कोटियों के निषेध द्वारा आत्मा का निषेध करते हैं। नागार्जुन का पूर्वापर-कोटियों का निषेध सूक्ष्म युक्ति-युक्त और अत्यन्त सूझपूर्ण है। वे कहते हैं, "यदि कारण को पूर्व और कार्य को पश्चात् मानें तो कारण अकृत होगा। अकृत : निर्हेतुक : कारण अकल्पनीय है और कार्य को प्रथम मान ही नहीं सकते, क्योंकि वह कारणापेक्षी है।"

यह सही है किन्तु वहीं तक जहां तक सन्दर्भ लौकिक (मनोभौतिक) है, लोक कर्तृ और ज्ञातृ को सम्मिलित नहीं कर सकता। इस प्रकार संसार को अनवराग्र कहा जा सकता है जहां तक संसार को उसके अपने भीतर से हम समझते हैं, किन्तु "संसार का मूल अविद्या में है" यह भी कहा जा सकता है, जो संसार से बाहर होकर उसे समझना है। यह मूल या आदि किसी सुदूर प्रागितिहास में नहीं है, यह प्रतिक्षण है, संसार निरन्तर संसार-भाव से उत्पन्न होता और उसमें प्रतिष्ठित रहता है, और उस भाव की समाप्ति के साथ समाप्त होता है। इस पर यह प्रश्न अपप्रश्न होगा कि तब इस अविद्या का हेतु क्या है? अविद्या का कोई हेतु नहीं है, इसे आप अनादि भी कह सकते हैं और अहैतुक सर्जन भी। अनादि इसलिए क्योंकि चित् में इसके आविर्भाव का कोई क्षण नहीं है और अहैतुक सर्जन इसलिए क्योंकि यह चित् में अपूर्वतः उद्भूत और तिरोहित होती है।

किन्तु चन्द्रकीर्ति की युक्तियां यहां अत्यधिक शिथिल हैं। वे कारिका 11·1 की व्याख्या में कहते हैं, "अनवराग्र (आदि-अंत-रहित) संसार की प्रतिपत्ति अविद्या-आवरण-युक्त सत्त्वों की दृष्टि से है जिससे वे उसके क्षय में प्रवृत्त हों।··· यहां प्रश्न उठता है कि आदि-रहित संसार का अन्त कैसे माना जाय? इसका उत्तर हो सकता है कि लोक में आदि-रहित बीजादि का दहनादि से अन्त देखा जाता है, भगवान ने अवबद्ध सत्त्वों को उत्साह प्रदान करने के लिए लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही संसार का अन्तोपदेश किया है। वस्तुतः संसार नहीं है···।" यहां प्रश्न उठता है कि भगवान ने लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही सही, संसार का आदित्व भी क्यों नहीं कहा? चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि संसार का आदि-भाव लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से भी सिद्ध नहीं होता। सादि मानने पर संसार अहैतुक होगा। पूर्वपक्षी कहता है, संसार की आदि और अन्त कोटि नहीं हो तब भी संसार के मध्य के सद्भाव से संसार की सत्ता सिद्ध होगी। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जिसका आदि और अन्त न होगा उसका मध्य क्या होगा?

यहां द्रष्टव्य है कि चन्द्रकीर्ति लौकिक ज्ञान की दृष्टि से आदि-रहित का अंत संभव मानते हैं, तब वे लौकिक ज्ञान की दृष्टि से संसार का मध्य भी स्वीकार

करने को बाध्य हैं । इस प्रकार अवबद्ध तत्त्वों के लिए संसार और उसका अन्त वास्तव में है, उसके अन्त का उपदेश झूठमूठ उत्साह प्रदान करने के लिए नहीं है । संसार का अन्त हो जाने पर उसके आदि-अन्त और अनादि-अनन्त का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । तब आप पूर्वापर कोटि के निषेध की बात ही क्यों करते हैं ? क्योंकि पूर्व कोटि का अभाव होने पर तो अपर कोटि का भाव सम्भव है और अपर कोटि का भाव होने पर उसका भाव स्वतःसिद्ध है जिसका अन्त सम्भव है। किन्तु यदि यह भी मानें कि आदि और अन्त दोनों अकल्पनीय हैं, जैसे कहें—"प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है और प्रत्येक कारण का कोई कार्य होता है," यहां आदि और अंत दोनों का अस्वीकार है; तो इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि कारण-कार्य घटनाएं भी नहीं हैं ? चन्द्रकीर्ति ने बीज के अनादित्व किन्तु सान्तत्व का जो उदाहरण दिया है वह स्पष्टतः अयुक्त है क्योंकि बीज का कार्यभूत वृक्ष चाहे न भी घटित हो किन्तु दूसरा कार्य राख तो घटित होता ही है, उसका लोप नहीं होता । यदि कहें कि बीज नहीं बीजत्व अभिप्रेत है तो प्रथम तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि बीज का उपादान कारण बीजत्व नहीं है, दूसरे यह कठिनाई होगी कि कुछ बीज है, यह केवल वृक्ष की उत्पत्ति से ही सिद्ध होगा और परिणामतः दग्ध वस्तु बीज थी यह सिद्ध नहीं हो सकेगा, नागार्जुन की युक्तिविधि में तो यह और भी नहीं हो सकेगा ।

13. संस्कार-परीक्षा

इस प्रकरण में आचार्यों का प्रतिपादन है कि उनकी दृष्टि अभाव-दृष्टि नहीं है क्योंकि अभाव-दृष्टि भाव-सापेक्ष निषेध-दृष्टि है । पदार्थमात्र के स्वभाव-रहित होने से निषेध के लिए कुछ शेष ही नहीं रहता । इस पर वे पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि शून्यता का भी कोई आश्रय होना चाहिए, जैसे अभाव और निषेध साश्रय हैं । इसके उत्तर में वे कहते हैं कि शून्यता कोई धर्म नहीं है जो उसका कोई आश्रय हो, शून्यता का अर्थ धर्मों की शून्यता है, इसलिए कोई धर्म अशून्य नहीं हो सकता । जब कोई अशून्य पदार्थ ही नहीं है और अशून्यता नहीं है तब प्रतिपक्ष से निरपेक्ष होने के कारण शून्यता भी नहीं होगी । शून्यता दृष्टियों की अप्रवृत्ति है । यदि कोई इस अप्रवृत्ति को भी शून्यता-दृष्टि कहकर अपनाना चाहे तो उसका क्या इलाज ? :

> शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः,
> येषांतु शून्यता-दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे । 13.8

इस प्रतिपादन को माध्यमिक कारिकाओं में केन्द्रीय महत्त्व का कहा जा सकता है । अभाव-दृष्टि भाव-सापेक्ष निषेध-दृष्टि है, परिणामतः कोई निरपेक्ष अभाव-दृष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि वह निरपेक्ष भाव-दृष्टि से अविवेच्य होगी । इस प्रकार 'शून्यता' से 'किसी भी दृष्टि की अप्रवृत्ति होना' मात्र अभीष्ट है । किन्तु तब प्रश्न हो सकता है कि आप इस अप्रवृत्ति को पदार्थ मात्र के स्वभाव-राहित्य पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं, यह निरपेक्ष अभाववाद नहीं है तो और क्या है ? दृष्टि की अप्रवृत्ति यदि भाव-अभाव दोनों के प्रति तटस्थ है तो वह "है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि" प्रकारक होगी : एकरस, एकरूप, अव्याख्येय, किन्तु शून्यात्मक नहीं । इस प्रकार कहा जा सकता है कि शून्यवाद वास्तव में "दृष्टिनामप्रवृत्तिवाद" नहीं होकर सर्व-अभाववाद है, जिसका आगे हम और स्पष्ट प्रमाण पायेंगे ।

14. संसर्ग-परीक्षा

नागार्जुन संसर्ग का भी निषेध करते हैं। वे कहते हैं : "संसर्ग के लिए भावों में परस्पर अन्यता होनी चाहिए किन्तु रूप, चक्षु और विज्ञान में अथवा राग, रक्त और रंजनीय में अथवा द्वेष, द्वेष्टि और द्वेषणीय में कोई अन्यता नहीं है, परिणामतः इनमें संसर्ग भी नहीं है। अन्यता का अभाव केवल इन्हीं में नहीं है, नितान्त अन्य प्रतीत होने वाले घट-पटादि में भी है। क्योंकि घट और पट में अन्यता परस्पर की अपेक्षा से होती है, किन्तु सापेक्षता अन्यता का निषेध है। नितान्त अन्यता केवल ऐसी दो वस्तुओं में ही हो सकती है जो परस्पर निरपेक्ष हों। जो अन्यता अन्य का आश्रय कर उद्भूत होती है वह अन्य प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुओं के समान ही शून्य होगी। यहां आपत्ति हो सकती है कि घट और पट में निरपेक्ष अन्यता संभव कैसे है? इसका उत्तर होगा कि यदि घट-वस्तु स्वकीय अन्य धर्मता के कारण पट-वस्तु से अन्य हो तो वह पट के अभाव में भी अन्य होगी। जो जिससे अन्य है वह यदि उस दूसरे के बिना भी अन्य हो तभी वह वास्तव में अन्य होगा, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार घट अपने स्वरूप की निष्पत्ति में : घटत्व में : अन्य की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार यदि वह अपने अन्यत्व में भी, पट के बिना भी, अन्य हो तभी उसमें निरपेक्ष अन्यता होगी। अब, यदि निरपेक्ष एकत्व में : घट की पट-निरपेक्षता में और पट की घट-निरपेक्षता में : संसर्ग मानें तो अनुपपन्न होगा क्योंकि निरपेक्षों में संसर्ग नहीं हो सकता, और यदि पृथक्ता में संसर्ग मानें तो भी अनुपपन्न होगा, क्योंकि क्षीर उदक से पृथक् रहकर उससे संश्लिष्ट नहीं होता।"

यहां भी पूर्व प्रदर्शित जैसा ही व्यामिश्र है : अन्यत्व दो या अधिक वस्तुओं में परस्पर व्यावर्तकता-सम्बन्ध है इसलिए निश्चय ही यह किसी एक का धर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्यत्व का निषेध वास्तव में सम्बन्ध मात्र का निषेध है। अब, इसमें युक्ति यह है कि घट में अघट का निषेध घट-स्वरूपगत ही होना चाहिए, अर्थात् तब भी यदि अघट नहीं हो। यद्यपि यह मांग प्रथम दृष्टि में केवल वाक्-चातुरी मात्र प्रतीत होती है किंतु वास्तव में यह वैसी नहीं है, यदि हम इसे व्यावृत्ति के रूप में देखें तो। अब, नागार्जुन का प्रश्न है कि क्या घट पट का घटत्वेन ही व्यावर्तक है या कि पट-सापेक्षकत्वेन? इस पर हमारा उत्तर है कि घट अघट का घटत्वेन ही व्यावर्तक है जो उसकी दैशिक सीमाओं, आकृति-वैशिष्ट्य और उपयोगार्थता से, जो उसे घट-व्यष्टि बनाते हैं, सिद्ध है। इसके बिना घट घट नहीं हो सकता और यह होने पर वह पर का ही नहीं स्वयं अन्य घट-व्यष्टियों का भी

व्यावर्तक होता है।[1] किंतु अन्य की यह स्वरूपगत व्यावर्तकता अन्य की अपेक्षा भी है, क्योंकि व्यावर्तन स्वत्व में अन्यत्व के निषेध की अंतर्गत अपेक्षा है। ऐसा भी कह सकते हैं कि घट में व्यावर्तकता उसकी अघट से व्यावृत्तता भी है, इस प्रकार घट का स्वत्व अघट से उसका अन्यत्व भी है। नागार्जुन की घट में अन्य से निरपेक्ष स्वकीय अन्यता की मांग ऐसी ही है जैसी व्यष्टि से, उसके सीमित हुए बिना, व्यष्टि होने की मांग, अथवा वर्ण से रक्त या पीत हुए बिना और इस प्रकार उनके अरक्त या अपीत से व्यावृत्त हुए बिना वर्ण होने की मांग करना। इस पर नागार्जुन की आपत्ति है कि जब सापेक्षता है तो अन्यता कैसे हुई ? यह तो पारस्परिकता है और इस प्रकार अन्यता का निषेध है। इसके विपरीत हमने दिखाया है कि अन्यता और विशिष्ट सापेक्षता एक ही बात है और ये जगत् की वस्तु मात्र में स्वरूपगत हैं, उनके स्वभाव में अन्तर्निहित। यहां यह उल्लेखनीय है कि व्यावर्तकता एक प्रकार की सापेक्षता भी है, किंतु वह अन्य के अपोहपूर्वक स्वत्व है और इस प्रकार वस्तुओं के, विशेषतः व्यष्ट्यात्मक वस्तुओं के, वैलक्षण्य की द्योतक भी है : कोई वस्तु विलक्षण हुए बिना व्यावर्तक और व्यावृत्त नहीं हो सकती।

यहां यह भी द्रष्टव्य है कि नागार्जुन अन्यात्मक सापेक्षता का कारणात्मक सापेक्षता में अन्तर्भाव करते हैं। 'घट पट से अन्य है' में अवश्य सापेक्षता भी है और इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि घट की अन्यता पटाश्रित है, किंतु यह सापेक्षता या आश्रितता कारणात्मक प्रकार की नहीं है, क्योंकि घट की अन्यता पट से उतनी ही है जितनी दूध से, अग्नि से, या पेड़ से; घट की यह अन्यता अन्य घट से भी है यद्यपि घटत्व में उसकी उससे अभिन्नता है। अब अंकुर की बीज पर आश्रितता में यह नहीं है कि अंकुर जिस प्रकार बीज का आश्रय कर, अपेक्षा कर, उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह घट का, दूध का, या अग्नि का भी आश्रयकर उत्पन्न होता है। नागार्जुन यहां घट-पट, बीज-अंकुर और ह्रस्व-दीर्घ—तीनों को एक समान रूप में देख रहे हैं जो कि ये स्पष्टतः नहीं हैं : विशेष अंकुर विशेष बीज के होने पर ही होता है और अंकुर के उत्पन्न हो जाने पर बीज नहीं रहता, बीज अंकुर में परिणत हो जाता है, किंतु घट पट के ही नहीं, किसी भी वस्तु के अभाव में घट ही रहता है। ह्रस्व-दीर्घ की सापेक्षता इन दोनों से भिन्न प्रकार की है : ह्रस्व दीर्घ के होने पर ही ह्रस्व होता है, नहीं तो वह ह्रस्व नहीं होता, किंतु विशेष ह्रस्व विशेष दीर्घ का अपेक्षी नहीं होता और इस प्रकार वह किसी दीर्घ पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर नहीं होता, केवल अवधारणात्मक रूप से दीर्घता-सापेक्ष होता है।

नागार्जुन की आगे की युक्ति और भी विचित्र है : 'उनके अनुसार सापेक्षों में

1. व्यष्टित्व और इतरव्यावृत्ति पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य : **सत्ताविषयक अन्वीक्षा**, अ. 1 और 5.

संसर्ग इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वे सापेक्ष हैं और निरपेक्षों में इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वे निरपेक्ष हैं, पृथक् वस्तुओं में इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वे पृथक् हैं और अपृथक् वस्तुओं में इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वे अपृथक् हैं।' दूसरे शब्दों में, जनक-सुता और रामस्य भार्या में इसलिए संसर्ग नहीं हो सकता क्योंकि इन दो विशेषणों का विशेष्य एक ही है और एक का स्वयं से संसर्ग होने का कोई अर्थ नहीं है, किंतु क्षीर और उदक में क्यों संसर्ग नहीं हो सकता ? यदि कहें कि क्षीरत्व और उदकत्व में अथवा घटत्व और पटत्व में संसर्ग असंभव है और परिणामतः घट-पट में भी असम्भव है तो दो घटों के संसर्ग में यह कठिनाई नहीं होनी चाहिए। किंतु वास्तव में घट और पट में भी संसर्ग घटत्व-पटत्व-परक नहीं होता, घटत्वावच्छिन्न और पटत्वावच्छिन्न दो भौतिक पिण्डों में होता है और परिणामतः यह भी दो घटों के बीच संसर्ग के अनुरूप ही होता है।

15. स्वभाव-परीक्षा

नागार्जुन के अनुसार स्वभाव का अर्थ है 'पर-निरपेक्षता तथा अकृत्रिमता' (अकृत्रमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च)। इसकी व्याख्या में चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि 'स्वो-भाव:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ का आत्मीय रूप उसका स्वभाव कहा जाता है। आत्मीय रूप वही होता है जो अकृत्रिम होता है। इस प्रकार अग्नि की उष्णता हेतु-प्रत्यय से प्रतिबद्ध होने के कारण, पूर्व में न होकर पश्चात् होने के कारण, कृतक है और इस प्रकार वह अग्नि का स्वभाव नहीं है। "अग्नि की उष्णता कृत्रिम : पर-कृत : कैसे है?" इसकी व्याख्या में वे कहते हैं "क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति मणि-इन्धन-आदित्य के समागम से तथा अरणि के निर्घर्षणादि से होने के कारण हेतु-प्रत्ययाश्रित है।"

स्वभाव की यह परिभाषा नितान्त सम्यक् और युक्त है। किन्तु इस परिभाषा के अनुसार अग्नि और इस प्रकार कोई धर्म स्वभाववान् नहीं है, यह निष्कर्ष युक्त नहीं है। यह सही है कि अरणियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, किन्तु इस उत्पन्न में कुछ 'स्वीय भाव' नहीं होता, यह बात सिद्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में हम पीछे अग्नीन्धन-परीक्षा में विचार कर चुके हैं। किन्तु मान लें कि ऐसा है : कि अग्नि आदि हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा कर ही उत्पन्न होते हैं और अपने हेतु-प्रत्ययों में पूर्णतः अपचेय होते हैं, किंतु तब भी नागार्जुन यह किस आधार पर सिद्ध मानते हैं कि यह व्यवस्था या नियम सर्वव्यापक है? मूल्यान्वेषण का सम्पूर्ण आयाम इस नियम के बाहर प्रतीत होता है : उत्कृष्ट-निकृष्ट, सुन्दर-कुरूप जिन हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा कर उत्पन्न होते हैं उनमें वे अपचेय नहीं होते।

16. बन्ध-मोक्ष-परीक्षा

इस प्रकरण में नागार्जुन संसार की सत्ता का निषेध करते हैं। इसके लिए वे निम्न प्रकार से तर्क प्रस्तुत करते हैं: "संस्कारों का संसरण होता है या कि सत्त्वों का? जिन संस्कारों का संसरण होता है वे नित्य हैं या अनित्य?" इन प्रश्नों का वे उत्तर देते हैं कि

1. नित्यों का संसरण असम्भव है और अनित्य उत्पाद के समनंतर ही नष्ट हो जाते हैं, विनष्ट अविद्यमान होने के कारण वन्ध्यापुत्र के संस्कारों के समान कहीं गमन नहीं कर सकते।

2. यदि कहें कि संस्कार हेतु-फल-परम्परा के रूप में अविच्छिन्न रहते हैं और संतान रूप से प्रवर्तित होकर संसरण करते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य कहीं से आगमन नहीं करता और कहीं गमन नहीं करता।

3. यदि कहें कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का संसरण होता है, तो पूर्व और उत्तर क्षणों के एक ही होने पर यह असम्भव होगा। किंतु उनका एकत्व असंभव नहीं है क्योंकि उनमें कारण-कार्यभाव है। और पुनः, भिन्नता मानने और संसरण मानने पर अर्हतों का भी संसरण मानना होगा।

4. आगे प्रश्न होगा कि नष्ट, अनष्ट या नश्यमान किस प्रकारक पूर्वक्षण से उत्तर क्षण का उदय होता है? यदि नष्ट से, तो वह्नि-दग्ध बीज से भी अंकुरोदय होगा, अनष्ट से, तो बीज के अविकृत रहने पर भी अंकुरोदय मानना होगा, जब नष्ट-अनष्ट असिद्ध हैं तो नश्यमान स्वतः ही असिद्ध हो जाता है।

संस्कार-प्रतिषेध विषयक इन आपत्तियों के सम्बन्ध में हमारी टिप्पणियां निम्न प्रकार हैं:

1. 'अनित्य उत्पाद के समनंतर नष्ट हो जाता है' यह प्रतिपत्ति काल की उद्ग्रहणात्मक अवधारणा (एब्स्ट्रैक्शन) पर आधारित है, अन्यथा आनुभूतिक काल का क्षण प्रलंबित क्षण होता है, अर्थात् इसके वर्तमान में सद्यः अतीत और सद्यः भविष्यत् तनाव, उद्विग्नता या अपेक्षा के रूप में सम्मिलित रहते हैं। इसके अतिरिक्त, जैव और चैत्त तत्त्व अतीत-संग्राही भी देखा जाता है। उदाहरणतः प्राणि-व्यवहार अतीत अनुभव के अनुसार भिन्न देखा जाता है। यदि कहें कि वह मन का वर्तमान क्षण ही होता है अतीत क्षण नहीं, तो यह काल का भौतिक निर्धारण है, मानसिक नहीं। मानसिक काल का निर्धारण भौतिक प्रकार से करने पर स्मृति की व्याख्या असंभव होगी जिसमें अतीत में अनुभूत विषय अतीतता के परिवेश और लक्षणों के साथ संगृहीत होता है। विषय के इस अतीतात्मक परिवेश का आधार विषयी की अपनी काल-स्थायिता होती है जो स्थायिता भौतिक प्रकारक

नहीं होकर विलक्षण रूप से चैत्त प्रकारक होती है। इस प्रकार उत्पाद-समनंतर नश्वरता मनोजगत् में अलभ्य होती है। यह नश्वरता वास्तव में अध्यवसायात्मक चित्त के स्तर पर ही नहीं जैव चित्त के स्तर पर भी लभ्य नहीं होती। जहां तक भौतिक सत्ता का प्रश्न है, उसमें काल चैत्त काल के उद्गृहीत रूप का ही आरोप होता है और वहीं पर क्षण की असीम अल्पता और उत्पाद-समनंतर नश्वरता की कल्पना लागू होती है।[1]

2. हेतु-फल-परम्परा के रूप में संसरण के तर्क का नागार्जुन का प्रतिवाद भी युक्त नहीं है। उनकी युक्ति है कि हेतु अतीत होने और फल अनागत होने से असत् है और असत् होने से संसरण में असमर्थ है। यह युक्ति वे पीछे दूसरे प्रसंग में भी दे चुके हैं और उस प्रसंग के विचार में हम इसका प्रतिवाद भी कर चुके हैं, किंतु यहां उस पर प्रसंगांतर में विचार अस्थाने नहीं होगा : हेतु और फल को पृथक्-पृथक् देखना केवल हमारे द्वारा व्यावहारिक सौकर्य की दृष्टि से आरोप है, अन्यथा हेतु और फल एक ही प्रक्रिया के अंतर्गत हैं। बीजांकुर को बीज और अंकुर इन दो कोटियों के रूप में ही क्यों देखा जाय? इन्हें एक ही प्रक्रिया क्यों नहीं माना जाय? कहा जा सकता है कि बीज भूमि, जल आदि हेतु-प्रत्ययों के योग से अंकुर-रूप में प्रस्फुटित होता है। सही है, किंतु तब ये भी उस प्रक्रिया के अंतर्गत सम्मिलित देखे जा सकते हैं। इस प्रकार यदि आप यह कहें कि "हेतु-फल ये दो कोटियां एक अविभाज्य स्थिति पर आरोप हैं, स्वयं वस्तुस्थिति एक एवं अविभाज्य है" तो समझ में आता है, किंतु यह कथन समझ में नहीं आता कि हेतु-फल विगत और अनागत होने से निष्क्रिय हैं। इस पर आचार्यों की आपत्ति होगी कि प्रक्रिया कह देने से कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रक्रिया विगत और अनागत का ही संयोग है। पर हमारा उत्तर है कि इसे संयोग तब कहें यदि इसमें विभाजन का कोई औचित्य हो। प्रक्रिया के विभाजन का आधार प्रक्रिया से बाहर उसका प्रेक्षक है जिस प्रेक्षण-के देश-काल-बिंदु पर से एक प्रक्रिया को हम हेतु-फल-रूप में विगत-अनागत में विभक्त करते हैं, प्रेक्षक-निरपेक्षता में इस विभाजन का कोई औचित्य नहीं है।

अथवा, यदि विभज्यता को वस्तु-स्वभावगत ही माना जाय तो कारण-विनाश संसरण को पूर्वापेक्षित ही करता है, क्योंकि अन्यथा उत्पन्न नष्ट क्यों होगा? इसके उत्तर में नागार्जुन उत्पत्ति-नाश समनन्तरता की बात करते हैं, जिसका प्रत्याख्यान हम पीछे कर आये हैं। जैसाकि हमने वहां देखा, समनन्तरता को 'उत्पत्ति-नाश'

1. यहां कांट की कालविषयक अवधारणा का उल्लेख स्थाने होगा जो काल को चैत्त अनुभवाकार मानकर भी उसे शुद्ध आकार के रूप में देखता है, जो नितांत अयुक्त है : जैसा कि यहां देखा जा सकता है, चैत्त अनुभवाकार उद्गृहीत रूप में भी देश के अनुरूप कल्पनीय नहीं है, केवल भौतिक आयाम में हां इस प्रकार कल्पनीय है, क्योंकि भौतिक आयाम स्वयं उदगृहीत है। द्रष्टव्य : सत्ताविषयक अन्वीक्षा, अ. 4.

की समकालिकता में नहीं बल्कि 'उत्पत्ति-नाश-उत्पत्ति' इस त्रिपदी के रूप में देखना चाहिए। अब रही कारण-कार्य के गमनागमन की बात। यदि कारण-कार्य का गमनागमन नहीं होता है तो क्या ये स्थिर रहते हैं? इस पर नागार्जुन कह सकते हैं कि भाव और अभाव दोनों कोटियां सापेक्ष और बुद्धि-विकल्प-मूलक हैं। सही है, यह भी सही है कि दो घटनाओं का कारण-कार्य-रूप में निर्धारण विकल्प-मूलक है, किंतु यहां नागार्जुन का प्रयोजन यह दिखाना नहीं है, यहां उनका प्रयोजन इस विकल्प की आत्म-अयुक्तता दिखाना है। उसी प्रसंग में और उसी स्तर पर यह प्रश्न उठता है कि कारण विगत होने से और कार्य अनागत होने से गमन और आगमन-क्रिया में असमर्थ हैं, क्रिया केवल वही कर सकता है जो है। किंतु इसका उत्तर है कि कारण वर्तमान भी हो सकता है, जहां तक कार्य का सम्बन्ध है वह अवश्य कारण के वर्तमान होने पर भविष्यगत : अनागत : होगा किंतु तब उसके लिए यह कोई नहीं कहता कि वह कोई क्रिया करता है या आगमन करता है, उसके लिए केवल यही कहा जाता है कि कारण, जो है, वह एक अवस्था है, यह अवस्था गमन-क्रिया द्वारा विगत और अनागत के अध्व की रचना करती है। इस अध्व के विरुद्ध आपत्ति का हम पहले ही प्रत्याख्यान कर चुके हैं।

3. उत्तर के आगमन पर पूर्व का संसरण मानने पर नागार्जुन की आपत्ति है कि वह क्षण की एकता होने पर ही संभव है, और एकता होने पर कारण-कार्य-भेद नहीं होगा, जैसे रूप से विज्ञान की उत्पत्ति कहने में यह पूर्वगृहीत है।

यहां आचार्य हमें दो विकल्प देते हैं : या तो संसरण को चुनें और कारण-कार्य-भेद को छोड़ें, अथवा कारण-कार्य-भेद को चुनें और संसरण को छोड़ें। किन्तु प्रश्न है कि ऐसा क्यों आवश्यक है? इसके लिए उनका उत्तर है कि प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर संसरित और आगत : पूर्व और उत्तर : की एकक्षणता स्वीकार करना आवश्यक होगा, अन्यथा वे पृथक्-पृथक् होंगे और परिणामतः संसरण नहीं होगा, किंतु यदि एकक्षणता मानते हैं तो कारण-कार्य भेद नहीं होगा। स्पष्टतः यह प्रतिपत्ति क्षणों की अणु-रूप कल्पना पर आधारित है। अर्थात् इनके अनुसार क्षण असीमल्प अवधि की पृथक्-पृथक् सत्ताएं हैं। जिस क्षण में कारण घटित होता है वह पृथक् और जिसमें कार्य घटित होता है वह पृथक् है और इसी से कारण और कार्य भी पृथक् हैं। यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद की प्रतीत्य की परिभाषा से संगत भी है, जिसके अनुसार एक घटना के घटित होने और अवसित होने पर दूसरी घटना घटित होती है। जैसाकि हमने देखा, यह कारण-कार्य सम्बन्ध की और इस प्रकार उस वस्तुस्वरूप की, जिसे बोधगम्य बनाने के लिए यह संबंध कल्पित है, अयुक्त अवधारणा है। जहां तक संसरण मानने के लिए एक-क्षणता मानने की बात है, वह मानने का अर्थ है क्षण को प्रलंबित मानना, जो युक्त है यद्यपि नागार्जुन उसे स्वीकार नहीं करते। किन्तु यह मानने पर ही कारण-कार्य सम्बन्ध का रूप भी

अधिक संगत बनता है।

पूर्व और उत्तर की एकक्षणता मानने पर उनकी एक और आपत्ति है कि तब 'पूर्व' और 'उत्तर' पदों के अर्थ में भिन्नता का क्या होगा ? इसके दो उत्तर हो सकते हैं : प्रथम यह कि एक-क्षणता केवल उत्तर के उदय और पूर्व के अन्त की कड़ी है, संपूर्ण की नहीं, और भिन्न क्षणों के आद्यन्त की यह एकता ही अविरलता या संततता को संभव कर सकती है। स्पष्टतः आचार्यों की यह आपत्ति क्षण की असीमल्प काल-बिन्दु के रूप में अवधारणा पर आधारित है।

किन्तु नागार्जुन की अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, केवल सब प्रतिज्ञाओं की आत्म-बाधितता का प्रदर्शन ही उनका प्रतिपाद्य है, इसलिए वे क्षण-भेद की प्रतिज्ञा की विसंगति भी प्रदर्शित करते हैं। इसके विरुद्ध उनकी युक्ति है कि "इससे अर्हतों का संसरण भी आपादित होगा, क्योंकि अर्हतों से भिन्न पृथग्जनों की उत्पत्ति तो होती ही है और उनकी उत्पत्ति से अर्हतों का, जोकि पृथग्जनों से भिन्न हैं, संसरण मानना होगा।" किन्तु यह तर्क भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्षण-भेद के साथ संसरण मानने का यह अर्थ नहीं है कि कोई भी दो वस्तुएं पूर्वोत्तर रूप से और इस प्रकार संसरित और तदनुगामी रूप से परस्पर सम्बन्धित हो सकती हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि पृथग्जनों के समान अर्हतों का संसरण क्यों नहीं माना जाता ? इसका उत्तर होगा कि क्योंकि उनका पुनर्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में वे पूर्वोत्तर क्रम से और पृथग्जनों के साथ किसी भी सम्बन्ध से रहित हो जाते हैं। संसरण केवल पृथग्जनों का होता है और वह उनके अनिर्वाण के कारण पूर्वोत्तर क्रम-गतत्व के कारण होता है। उनका दूसरा उदाहरण है कि क्षण-भेद में संसरण मानने पर निर्वात प्रदीप को भी प्रदीपान्तर में ज्वलित मानना होगा। किन्तु क्यों ? निर्वात प्रदीप और प्रज्ज्वलित प्रदीप में केवल क्षणान्तरता ही नहीं है, सन्तानान्तरता भी है। निर्वात प्रदीप एक निरुद्ध संतति है और प्रज्ज्वलित प्रदीप दूसरी और अनिरुद्ध संतति, इन दो में क्षणान्तरता ही नहीं सन्तानांतरता भी है। दूसरे शब्दों में, संसरण में क्षण-भेद की अनिवार्यता-विषयक वादी की प्रतिज्ञा का यह अर्थ नहीं है कि कोई भी भेद, अथवा क्षणों का भी भेद मात्र ही, संसरण का प्रयोजक है बल्कि यह है कि संसरण के लिए अन्य अपेक्षाओं के अतिरिक्त पूर्वोत्तर क्षणों की भिन्नता भी अनिवार्य है। अब निर्वात प्रदीप को प्रदीपान्तर में इसलिए ज्वलित नहीं माना जाता क्योंकि प्रदीप : अग्नि-शिखा : और प्रदीपान्तर : अन्य अग्नि-शिखा : में केवल पूर्वापरता ही नहीं है बल्कि व्यष्टिभिन्नता और इस प्रकार सन्तानान्तरता भी है। यदि वादी की प्रतिज्ञा केवल क्षणान्तरता तक ही सीमित हो तब नागार्जुन की यह आपत्ति वैध मानी जाय।

4. यह आपत्ति भी भ्रांतिपूर्ण है, जिस भ्रांति का कारण वस्तु-स्वरूप को

गहराई से नहीं देखना है। पूर्व क्षण से उत्तर क्षण के उदय का कोई एक रूप नहीं है : बीजांकुर एक है, आघात से व्रण दूसरा, व्रण से पीड़ा तीसरा है, वियोग से दुःख चौथा, उपदेश से बोध पांचवां है और मनन से बोध छठा; इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार पूर्वक्षण से उत्तर क्षण के उदय के हो सकते हैं। अब बीजांकुर में यह कहना ठीक नहीं है कि बीज-क्षण अंकुर-क्षण के साथ रहता है, बल्कि यह कहना ठीक है कि बीज-क्षण से अंकुर-क्षण तक एक विकास-प्रक्रिया घटित होती है जिसके प्रथम छोर को बीज और अंतिम छोर को अंकुर की संज्ञा दे दी जाती है। किन्तु आघात से व्रण में दूसरी बात होती है। इसमें आघात के अवसित होने के साथ व्रण उत्पन्न होता है। अब यहां यह उल्लेखनीय है कि वही घटनात्मक अवसान कारण कहे जाते हैं जो किसी अन्य घटना को निष्पन्न करते हैं, अन्यथा नहीं, यह निष्पन्न घटना कार्य कही जाती है। किन्तु 'व्रण से पीड़ा' में नष्ट, अनष्ट और नश्यमान में से कोई भी कोटि चरितार्थ नहीं होती : व्रण के रहते ही पीड़ा रहती है, उसके समाप्त हो जाने पर पीड़ा समाप्त हो जाती है। यही बात 'वियोग से दुःख' की उत्पत्ति में है। अब कहा जा सकता है कि कारण-कार्य के रूप में इनमें पूर्वापरता तो रहती है। सही है, किन्तु तब यह कहा जा सकता है कि पूर्व और उत्तर में जनक-जन्य भाव तो है किन्तु इस प्रकार का कि पूर्व उत्तर में अवसित होता है, अथवा अधिक उचित शब्दों में पूर्व उत्तर पर्यन्त होता है, ऐसा नहीं कि पूर्व के नष्ट होने पर उत्तर का उद्भव होता है।

नागार्जुन इन युक्तियों के आधार पर, जिनकी हमने अयुक्तता दिखायी है, आत्मा का, और बन्ध तथा मोक्ष का भी, खंडन करते हैं। आत्मा के खंडन में उनकी युक्तियां वही हैं जो पीछे उन्होंने अन्य प्रसंगों में प्रस्तुत की हैं किन्तु बंध और मोक्ष के उनके खंडन में युक्तिनावीन्य नहीं होने पर भी वह महत्त्वपूर्ण है। यह युक्ति चन्द्रकीर्ति की है, नागार्जुन की नहीं। वे संसार के सद्भाव के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि "संसार है, क्योंकि उसका प्रतिद्वन्द्वी निर्वाण है।" इसके उत्तर में चन्द्रकीर्ति कहते हैं "निर्वाण नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि निर्वाण नित्य सत्त्व के लिए है या कि अनित्य सत्त्व के लिए? ये दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं क्योंकि नित्य अविकारी होता है और अनित्य अविद्यमान होता है, अतः निर्वाण नहीं होगा। यदि कहें कि नित्यत्वेन अनिर्वचनीय का निर्वाण होता है तो संसार के समान आत्मा का भी निर्वाण स्वीकार करना पड़ेगा...किन्तु आत्मा अलात चक्र तथा मृगमरीचिका के समान आत्मीय स्वभावों से रहित है। केवल विपर्यास से अहंभाव का परिग्रह है इसलिए सत्त्व सोचता है कि मैं सर्वोपादानरहित होकर निर्वाण प्राप्त करूं। सत्त्व का यह अहंकार-ममकार ही सत्कायदृष्टि का उपादान है, वस्तुतः यह उसका महाग्रह है। परमार्थ सत्य में निर्वाण का अध्यारोप अनुपलब्ध होने के कारण निर्वाण असंभव है, इसलिए संसार-परिक्षय भी असंभव है। क्योंकि

जब निर्वाण नहीं है तो संसार भी कैसे विकल्पित होगा ?"

यहां सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि पूर्वपक्ष द्वारा निर्वाण को संसार के व्यावर्तक के रूप में, उसकी प्रतिप्रतिज्ञा के रूप में देखने पर आचार्यों ने कोई आपत्ति नहीं की है, बल्कि उसे स्वीकार किया है और संसार के प्रतिषेध के लिए निर्वाण का भी प्रतिषेध किया है। यह दृष्टि मोक्ष-विषयक वेदान्त-दृष्टि के पूर्णतः विपरीत है।

निर्वाण के प्रतिषेध में प्रथम युक्ति है कि 'निर्वाण के होने के लिए कोई निर्वाण प्राप्त करने वाला सत्त्व भी होना चाहिए, और वह हो नहीं सकता।' इस युक्ति में आत्मा की नित्यता और अनित्यता के अभ्युपगम के निषेध में प्रयुक्त तर्क वैसे ही हैं जैसे इस प्रकार के दूसरे निषेधों के पक्ष में दिये गये तर्क हैं। किन्तु तीसरा अभ्युपगम : नित्यत्वेन अनिर्वचनीयता का : नया है और निर्वाण की दृष्टि से आधारभूत है। अर्थात् आत्मा की नित्यता द्वन्द्वात्मक विचार-कोटियों द्वारा निर्धार्य नहीं है, वह केवल नेति-नेति द्वारा संकेत्य है। इस उद्भावना का कोई युक्त प्रतिकार आचार्यों ने नहीं किया है बल्कि उसे उन्हीं द्वन्द्वात्मक विचारकोटियों का विषय बनाकर उसका निषेध किया है। जैसे चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"सोपादान आत्मा की ही अवाच्यता कही जायेगी। किन्तु निर्वाण में कोई उपादान नहीं हो सकता इसलिए इसकी अवाच्यता कैसे हुई ? यदि कहें कि तत्त्व-अन्यत्त्व अवाच्यता है तो प्रश्न होगा कि क्या वह (आत्मा) निर्वाण में है ? या कि नहीं है ? यदि कहें कि है, तो मोक्ष में भी उसका सद्भाव होने से नित्यता होगी, यदि कहें कि नहीं है तो आत्मा अनित्य होगा। अथवा यदि निर्वाण में भी आत्मा की अस्तित्व-नास्तित्व से अवाच्यता इष्ट है तो भी प्रश्न होगा कि क्या वह विज्ञेय है ? अथवा नहीं ? यदि विज्ञेय है तो वह आत्मा निर्वाण में निरुपादभूत होकर विज्ञेय नहीं हो सकता, संसार ही की तरह, यदि कहें कि वह अविज्ञेय है, तो वह अविज्ञेय-स्वरूप होने से आकाश-कुसुम के समान असत् होगा, तब फिर वह अवाच्य कैसे होगा ? इस प्रकार निर्वाण भी नहीं है।" ये सब प्रश्न भयानक रूप से भ्रांतिग्रस्त हैं। प्रथम आक्षेप है कि "अवाच्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है : सोपादान : किन्तु निर्वाण में कोई उपादान नहीं हो सकता।" सर्वप्रथम, अवाच्यता के लिए उपादान का होना क्यों आवश्यक है ? क्या शून्य वाच्य है ?[5] याकि वह अवाच्य और इसलिए सोपादान है ? निर्वाण यदि निरुपादान है तो वह क्या वाच्य है ? दूसरे, निर्वाण उपादान-रहित है, यह कैसे सिद्ध है ? यदि कोई कहे कि वाचानामतिक्रमण ही

5. यहां स्वयं नागर्जुन कहते हैं :
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयं नोऽभयंचेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते । 22. ॥

निर्वाण है जो वाच्यानामतिक्रमण का पयार्य है, तो उसके विरुद्ध क्या युक्ति होगी ? यहां वादी अपनी इस प्रतिपत्ति के समर्थन में कह सकता है कि निरुपादानिकता आकाश-कुसुम के समान असंभव है, तो उसके विरुद्ध क्या तर्क है ? इसके विरुद्ध उनका तर्क है कि, तब आत्मा नित्य या अनित्य होगा। यदि हम कहें कि आत्मा के नित्यत्व में आपकी क्या आपत्ति है ? तो पीछे वे नित्यता के विरुद्ध यह आपत्ति कर चुके हैं कि ऐसा द्रव्य निष्क्रिय होगा। किन्तु आत्मा को स्वीकार करने वाले तो उसके लिए यही कहते हैं। किन्तु अपनी इस आपत्ति के विरुद्ध वे पूर्वपक्ष देते हैं कि, "नहीं, आत्मा नित्यानित्यत्व से अवाच्य है।" इस युक्ति के विरुद्ध वे प्रश्न उठाते हैं कि वह विज्ञेय है या अविज्ञेय ? और तब कहते हैं कि "वह निर्वाण में निरुपादभूत होने से विज्ञेय नहीं हो सकता।" किन्तु प्रतिपक्षी ने यह स्वीकार ही नहीं किया कि आत्मा निर्वाण में निरुपादभूत है। पर मान लें कि वह निरुपादभूत है, तब वह अविज्ञेय भी कैसे होगा, क्योंकि ज्ञेयता और अज्ञेयता दोनों समान रूप से विधेय हैं जो उद्देश्य को लक्षित करते हैं। और 'अविज्ञेय 'अनस्ति' के जैसा अयुक्त विधेय नहीं है, यद्यपि चन्द्रकीर्ति अविज्ञेय को आकाश-कुसुमोपम कहकर उसे अयुक्त विधेय ही कहना चाहते हैं। 'अविज्ञेय' उसी प्रकार युक्त विधेय है जिस प्रकार 'अदृश्य' है। अपने या अन्य के विचार अदृश्य हैं क्योंकि वे स्वरूपतः इन्द्रिय-अविषय हैं। ठीक उसी प्रकार ज्ञान को अनिवार्यतः सविषय मानने पर विषयी, विशेषतः कर्त्ता, अविज्ञेय होगा। अब मान लें कि आप ज्ञान को तत्त्व-साक्षात्कार-पर्यन्त व्यापक मानते हैं और इस प्रकार किसी तत्त्व को अविज्ञेय नहीं मानते, किन्तु यह केवल ज्ञान के निर्धारण की बात हुई, 'अविज्ञेय' पद के प्रयोग की युक्तता की बात नहीं।

निर्वाण के निषेध विषयक इन युक्तियों की अयुक्तता देखने के बाद अब हम इस सम्बन्धी मूल युक्ति की अयुक्तता देखेंगे। मूल युक्ति है कि "निर्वाण होने के लिए कोई सत्त्व होना चाहिए जिसका निर्वाण हो। किन्तु वह हो नहीं सकता।" अब मान लें कि आत्मा या सत्त्व नहीं है, किन्तु तब भी नागार्जुन के अपने अनुसार ही व्यवहार है जिसके निषेध का आश्रयण कर हम परमार्थ-लाभ करते हैं। तो हम कहेंगे यही निर्वाण है। वास्तव में यहां नागार्जुन का अभिप्राय है कि परमार्थतः व्यवहार कुछ नहीं है और इसलिए परमार्थ भी कुछ नहीं है, परिणामतः निर्वाण भी कुछ नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस प्रकार देखने पर यह मूल प्रतिपत्ति निरापत्तिक है। किन्तु आत्मा की अनिर्वचनीयता के खंडन में दी गई युक्तियों की इस प्रकार रक्षा संभव नहीं है। ऊपर हम स्वयं नागार्जुन को शून्य की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित करते देख ही आये हैं। यहां चन्द्रकीर्ति द्वारा उद्धृत बुद्ध-वचन का उद्धरण स्थाने होगा: "भगवन्, किसके उपलंभ से सत्त्व संसार का अतिक्रमण नहीं करते ? भगवान ने उत्तर दिया—आत्मा के उपलंभ

से सत्त्व संसार का अतिक्रमण नहीं करते।" इस पर मंजुश्री प्रश्न करते हैं, "उसका हेतु क्या है?" "मंजुश्री, जो आत्मा को परम मानता है उसके कर्माभिसंस्कार उत्पन्न होते हैं···।" इस बुद्ध-वचन से स्पष्ट है कि "आत्मा" उनके लिए संसारगत कोटि है, अतिक्रांत कोटि के रूप में वे उसका निषेध नहीं कर रहे हैं। अवश्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति अतिक्रांत कोटि का भी निषेध करते हैं, किन्तु ऊपर दी गई उनकी युक्तियां इसमें समर्थ नहीं हैं।

17. कर्म-फल-परीक्षा

कर्म भी नागार्जुन के अनुसार निस्स्वभाव है और उसके लिए नागार्जुन की वही युक्तियां हैं जिन पर हम पीछे विचार कर चुके हैं : "यदि कर्म स्वभाववान होता तो उसका अन्यथाभाव भी नहीं हो सकता था, और वह अकृत भी होता, क्योंकि जो स्वभावतः है वह शाश्वत रूप से और कारणरहित (स्वतः)होता है और यदि वह अकृत है तो उसके फल का कोई प्रश्न नहीं उठता।

"यदि कहें कि कर्म का हेतु क्लेश है, तो यह सही है, किन्तु क्लेश स्वयं निस्स्वभाव है, अतः निस्स्वभाव हेतु से कोई सस्वभाव फल उत्पन्न नहीं हो सकता।" तब आपत्ति होगी कि ऐसी अवस्था में कर्त्ता, कर्म और फल की व्यवस्था नहीं हो सकेगी और बुद्ध के वचन का अपवाद होगा।

इसके उत्तर में नागार्जुन कहते हैं कि, "कर्त्ता, कर्म और फल की व्यवस्था होने के लिए कर्म का सस्वभाव होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः उस उत्पन्न निर्मितिक ने पुनः एक दूसरे निर्मितिक का निर्माण किया। अपनी ऋद्धि के प्रभाव से भगवान बुद्ध ने एक निर्मितिक को उत्पन्न किया। वह निर्मितिक तथागत-स्वभाव-शून्य है अतः शून्य और निस्स्वभाव है।" किन्तु यहां स्पष्ट है कि प्रथम निर्मितिक का निर्माण निस्स्भाव ने नहीं किया, बुद्ध ने किया, इसलिए प्रथम निर्मितिक निःस्वभाव नहीं है और परिणामतः अनुगामी निर्मितिक भी निःस्वभाव नहीं हैं। यदि कहें कि बुद्ध भी निस्स्वभाव हैं तो दिखायें कि कोई निस्स्वभाव किसी निर्मितिक का निर्माण कैसे कर सकता है? इसके अतिरिक्त, यदि बुद्ध निस्स्वभाव हैं तो उन निस्स्वभाव बुद्ध के वचन के अपवाद-निवारण की भी क्यों चिन्ता करते हैं? अस्तु, यहां आधारभूत प्रश्न यह है कि क्या प्रथम निर्मितिक भी निस्स्वभाव से निर्मित हो सकता है और इस प्रकार निर्मितिकों का मूल ही निस्स्वभाव हो सकता है? यद्यपि यहां बुद्ध का उल्लेख सस्वभाव तत्त्व के रूप में ही है किन्तु आगे, तथागत परीक्षा में, नागार्जुन बुद्ध को स्पष्टतः निस्स्वभाव कहते हैं। द्वादश-समुत्पाद-चक्र का आरंभ सभी बौद्ध अविद्या से मानते हैं जिसकी निस्स्वभावता असन्दिग्ध ही है।

किन्तु तब यहां आपत्ति होना स्वाभाविक है कि कर्म के प्रवर्तन का प्रयोजन अविद्यामूलक हो सकता है किन्तु यदि अविद्या का अधिष्ठान भी निस्स्वभाव हो तो अविद्या की निस्स्वभावता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, अविद्या की निस्स्वभावता अधिष्ठान की सस्वभावता की अपेक्षा से ही हो सकती है अन्यथा उसकी निस्स्वभावता ही प्रतिषिद्ध हो जाती है : तब अविद्या ही स्वाधिष्ठित और इस प्रकार सस्वभाव हो जाती है। कहा जा सकता है कि 'निस्स्वभावता'

'आत्मप्रतिषिद्धता' का ही वाचक है, इस कारण उसकी अधिष्ठानापेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इसका उत्तर होगा कि आत्म-प्रतिषिद्ध अप्रतिषिद्धवत् प्रकट है, निःस्वभाव सस्वभाववत् प्रकट है, परिणामतः निस्स्वभाव की निस्स्वभावता का प्रकट होना आवश्यक है। अब, यह प्रकटन, अविद्या का निरसन, किसी अधिष्ठान का अपेक्षी है। नागार्जुन इस अपेक्षा को बुद्धि की सीमा कहेंगे। इस प्रश्न पर आगे विचार अपेक्षित है जो हम आगे प्रसंगानुसार करेंगे।

19. काल-परीक्षा

नागार्जुन काल का भी निषेध करते हैं। काल अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीन आयामों में विभक्त है। किन्तु वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) और भविष्यत (अनागत) अतीत की अपेक्षा कर सिद्ध होते हैं। अब, यदि ऐसा है तो, नागार्जुन के अनुसार, वे अतीत ही होंगे। क्योंकि यदि प्रत्युत्पन्न और अनागत की अतीत में सत्ता नहीं हो तो वे उसी प्रकार स्वतः नहीं होंगे जिस प्रकार तिलों के बिना तेल अथवा अवंध्या के बिना पुत्र नहीं हो सकता।

यह युक्ति काल-स्वभाव, आकार और उपमा सभी दृष्टियों से अयुक्त है। इन अयुक्तताओं को यहां हम विपरीत क्रम में देखेंग : (1) व्युत्पन्न में अतीत की अपेक्षा का क्या स्वरूप है इस निर्धारण के लिए पहले यह निश्चित करना आवश्यक है कि हम काल को किस सन्दर्भ में देख रहे हैं: मानस संदर्भ में ? प्राणिक संदर्भ में, या कि भौतिक सन्दर्भ में ? मानस सन्दर्भ में कुछ अवस्थाओं में वर्तमान मूल और विगत तथा अनागत उसकी अपेक्षा से होते हैं और कुछ अवस्थाओं में अनागत मूल और वर्तमान उसमें अपेक्षी होता है। प्रथम स्थिति विषय-प्रज्ञप्ति में और दूसरी सप्रयोजन क्रिया में होती है। स्मृति में भी मूल अतीत नहीं होकर वर्तमान अथवा भविष्यत होता है। रोग अथवा आघात से पूर्ण स्मृति-हीनता होने पर अतीत का आयाम ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार मानसिक काल त्रि-आयामात्मक हो, यह आवश्यक नहीं है। जैविक क्षेत्र में यद्यपि बीजांकुर-न्याय से काल अनादि और अनंत है किन्तु व्यष्टि की उत्पत्ति और मृत्यु में यह सादि और सान्त है : मेरी उत्पत्ति में जनक-जननी अवश्य कारण हैं किन्तु मेरा वैशिष्ट्य मेरे कारण में अशेषतः अपचेय नहीं है। इसी प्रकार, मेरी मृत्यु के बाद का पंचत्व मेरा भविष्यत नहीं होगा, मृत्यु मेरी जैव सत्ता का अन्त होती है। मानस सन्दर्भ में भी वर्तमान-मूलक काल मृत्यु के साथ समाप्त और जन्म के साथ आरंभ होता है। जहां तक भौतिक संदर्भ का प्रश्न है उसमें केवल अतीत और वर्तमान ही होता है, उसमें अनागत कुछ नहीं होता। एक दूसरे अर्थ में उसमें कालिकता कुछ होती ही नहीं, क्योंकि उसमें केवल मात्रात्मक परिवर्तन होते हैं। इस पर कहा जा सकता है कि यदि काल का उपर्युक्त निरूपण सही हो तो भी काल "तदपेक्ष्य" की प्रतिपत्ति के अनुसार एक ही आयाम में अन्तर्भाव्य होगा और इस प्रकार काल-स्वभाव का निषेध आपन्न होगा। किन्तु ऐसा नहीं है; न तो मानस काल में स्मृति, प्रत्यक्ष और अपेक्षा किसी एक आयाम में अपचेय होते हैं और न जैव-काल में व्यष्टि की उत्पत्ति का क्षण अथवा अनुगामी कोई भी व्युत्पन्न क्षण अतीत में अपचेय होता है—चाहे जीवनकाल का कोई भी व्युत्पन्न क्षण अतीत

की अपेक्षा से ही हो। इस निरूपण से स्पष्ट है कि यहां तिलों में तेल की सत्ता और सिक्ता में असत्ता विषयक उपमा नितांत असंगत है।

आकारतः इसमें यह दोष है कि नागार्जुन यहाँ 'अतीत की अपेक्षा कर' और 'अतीतगतत्व' को पर्यायवाची मान रहे हैं। कांच पत्थर के आघात की अपेक्षा कर टूटता है किन्तु इसी कारण कांच की टूटन पत्थर में, अथवा पत्थर की गति में भी, विद्यमान नहीं होती। इसी प्रकार पीड़ा व्रण में और घट कुंभकार की चाक-क्रिया में नहीं होता। इसके अतिरिक्त वास्तव में 'अपेक्षा कर' का काल के सन्दर्भ में कोई निश्चित अर्थ ही नहीं है जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

जहां तक उपमा की अयुक्तता का सम्बन्ध है, नागार्जुन ने जो उदाहरण चुने हैं वे नितांत अयुक्तिसंगत हैं : तिलों से तेल और अवन्ध्या से पुत्र परस्परतः भी एक समान नहीं हैं किन्तु काल की दृष्टि से ये दोनों ही अनुपयुक्त हैं : तेल जबकि तिल का अंश है उसका कार्य नहीं है, पुत्र अवंध्या का अंश नहीं है और अवंध्यात्व पुत्र के लिए केवल अनेक में से एक कारण होता है। इसके विपरीत न तो वर्तमान और अनागत अतीतगत होते हैं और न अतीत उनके लिए कारण होता है, वह केवल दायें-बायें के समान उनसे सम्बन्धित होता है।

ठीक बात यह है कि काल-निषेध-विषयक नागार्जुन की यह युक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद-विषयक उनकी साधारण अवधारणा के अनुसार वस्तु-स्वभाव-निषेध की सामान्य युक्ति की आवृत्ति मात्र है। किन्तु हमने पीछे देखा कि यह युक्ति समान रूप से सर्वत्र लागू नहीं होती, काल पर तो यह किसी भी तरह लागू नहीं होती। यदि काल को उपर्युक्त विभिन्न संदर्भों से पृथक् उसके शुद्ध आकार में देखें तो उसे अध्व अथवा रेखीय प्रगामिता की उपमानुसार कल्पित किया जा सकता है जो आत्मचेतन के अवलोकन-व्यापार द्वारा अतीत, विद्यमान और आगामी इन तीन आयामों में विभक्त हो जाता है। इसमें अतीत वर्तमान में से होकर भविष्यत की ओर प्रवाहित होता है। इसमें "अतीत की अपेक्षा कर सिद्ध होना" यह निरूपण उपपन्न नहीं होता।

21. संभव-विभव-परीक्षा

संभव-विभव (उत्पत्ति और नाश) की अवधारणाओं पर विचार करते हुए नागार्जुन उनका भी निषेध करते हैं और इस निषेध को वे काल-त्रय के समूल निषेध के लिए आवश्यक मानते हैं। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि काल-त्रय और वस्तुओं का संभव-विभव यह एक ही बात नहीं है, काल-त्रय वस्तुओं के संभव-विभव से पृथक् भी सत् है या अवधार्य है और यह भी हो सकता है कि काल-त्रय की अवधारणा वस्तुओं के संभव-विभव की वस्तुस्थिति से ही उद्गृहीत है। परिणामतः इस वस्तुस्थिति की अवस्तुता की सिद्धि से इस अवधारणा की अयथार्थता और भी स्पष्ट हो जाती है। इनमें नागार्जुन को कौन-सा विकल्प सम्मत है यह स्पष्ट नहीं है। यहां यह भी स्पष्ट नहीं है कि पीछे संस्कृत-परीक्षा के प्रसंग में किये गए उत्पाद-स्थिति-भंग विषयक विचार से इसमें क्या अतिरिक्तता है, सिवाय इसके कि इसमें स्थिति को हटाकर केवल उत्पाद और भंग को ही रखा गया है। किंतु स्थिति को हटाकर संभव-विभव का विचार अपने आपसे ही अयुक्त हो जाता है। वैसे भी जब आप काल-त्रय के साथ इस विचार को सम्बद्ध करते हैं तब स्थिति का आयाम अनिवार्य हो जाता है। इस पर यदि कहें कि संभव और विभव के निषेध से स्थिति का स्वयं निषेध हो जाता है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम अभी देखेंगे यह निषेध स्थिति का आकलन नहीं करने के कारण ही इतना सरल लगता है अन्यथा नहीं। नागार्जुन संभव-विभव के निषेध में इस प्रकार युक्ति करते हैं—

"संभव-विभव एक-दूसरे के साथ-साथ होते हैं या एक-दूसरे से विरहित? संभव के बिना विभव नहीं हो सकता। यदि संभव के बिना विभव हो तो जन्म के बिना मरण भी हो। संभव के साथ भी विभव नहीं होगा, अन्यथा जन्म-मरण एक काल में होंगे। विभव के बिना भी संभव नहीं होगा, अन्यथा कोई पदार्थ कभी अनित्य नहीं होगा। विभव के साथ भी संभव नहीं होगा क्योंकि तब जन्म-मरण एक काल में ही होगा। सहभाव और असहभाव से भिन्न कोई तीसरा प्रकार नहीं है जिससे संभव-विभव की सिद्धि हो।

"पुनः, संभव-विभव क्षय-धर्मी भावों का होता है या अक्षय-धर्मी भावों का? दोनों ही प्रकार असिद्ध हैं। क्षयशील पदार्थों का संभव नहीं होगा, क्योंकि क्षय का विरोधी संभव है। अक्षय पदार्थों का भी संभव नहीं होगा क्योंकि अक्षय-धर्म भाव से विलक्षण हैं। इसी प्रकार क्षय या अक्षय पदार्थों का विभव भी नहीं हो सकता।"

अब यहां संभव-विभव सम्बन्ध के अनेक विकल्प प्रस्तुत किये गए हैं किंतु एक

वह विकल्प जो वस्तुस्थिति के अनुरूप है प्रस्तुत नहीं किया गया है और वह है स्थिति-व्यवहित संभव-विभव। अब, नागार्जुन प्रश्न करते हैं कि संभव-विभव एक-दूसरे से संयुक्त होते हैं या एक-दूसरे से विरहित ? इसका उत्तर होगा कि वे न परस्पर संयुक्त होते हैं और न विरहित, वे स्थिति-व्यवहिततया परस्पर अनुक्रमित होते हैं। किंतु यदि 'स्थिति' को निकाल भी दें और कहें कि संभव-विभव परस्पर सहित और विरहित नहीं होते बल्कि अनुक्रमित होते हैं, तो भी वही बात होगी और नागार्जुन द्वारा ऊपर प्रथम अनुच्छेद में उठायी गई आपत्तियों के लिए कोई अवकाश नहीं रहेगा। इस पर आपत्ति हो सकती है कि संभव और विभव यदि दो अवस्थाएं हैं तो इनके बीच व्यवधान मानना होगा, व्यवधान को उपर्युक्त सुझाव के अनुसार स्थिति मानने पर भी समाधान नहीं होता क्योंकि तब संभव, स्थिति और विभव के बीच व्यवधान का प्रश्न उठेगा। इसका उत्तर होगा कि ये तीन अनुक्रमित व्यष्टियां या अपने में आकुंचित बिंदु नहीं हैं बल्कि अनुगामी अवस्था में संक्रमित होती हुई अवस्थाएं हैं जिनका त्रित्व केवल उद्ग्रहणात्मक है।

अब दूसरे अनुच्छेद को देखें। वे कहते हैं "क्षय-धर्मी पदार्थों का संभव नहीं होगा क्योंकि क्षयधर्मिता और संभवता परस्पर विरुद्ध हैं।" द्रष्टव्य है कि 'क्षय' और 'अक्षय' यहां 'विभव' और 'संभव' के पर्यायों के रूप में ही प्रयुक्त किये गये हैं, अन्यथा क्षय-धर्मिता और 'संभवता' में विरुद्धता कैसे है ? यह क्यों नहीं कह सकते हैं, जो कि वस्तुस्थिति के भी अनुरूप है, कि संभव होने पर ही कुछ क्षय-धर्मी होता है, संभव नहीं होने पर वह होता ही नहीं इसलिए वह क्षयधर्मी भी नहीं हो सकता। यदि कहें कि अवश्य वस्तुस्थिति यही है कि जो संभव होता है वही क्षयशील होता है, किंतु यह दिखाना ही तो नागार्जुन का मन्तव्य है कि जो अस्तित्ववान प्रतीत होता है वह आत्म-बाधित है और अतएव असत् है। किंतु तब वे जो कहते हैं कि "विभव के बिना संभव नहीं हो सकता क्योंकि तब कोई पदार्थ अनित्य नहीं होंगे" तो कहा जा सकता है कि "क्योंकि संभव और विभव परस्पर विरुद्ध हैं और एक काल में नहीं हो सकते, और क्योंकि यह भी नहीं हो सकता कि संभव के बिना विभव हो, इसलिए यह संभव है कि सब संभव विभव के बिना हो और विभव केवल प्रातीतिक हो। यदि आप कहते हैं कि, तब कोई पदार्थ अनित्य नहीं होगा, तो कहा जा सकता है कि, नहीं होगा तो न सही, तब अनित्यता केवल प्रातीतिक होगी और सब पदार्थ नित्य होंगे। इस तार्किक प्रस्ताव का आपके पास क्या उत्तर है ? नागार्जुन जो एक निरन्तर व्यामिश्र करते हैं वह यह कि वे अनुभवात्मक अवधारणाओं को शुद्ध तार्किक अवधारणाओं में रूपांतरित कर अनुभव को आत्मबाधित कह देते हैं, और जहां तार्तिक अवधारणाओं में विरोध नहीं बनता वहां उनकी अप्रतिष्ठा अनुभव से उनकी संगति नहीं होने के आधार पर सिद्ध कर देते हैं।

22. तथागत-परीक्षा

नागार्जुन तथागत का भी निषेध करते हैं। यह निषेध वास्तव में शून्यवाद को भारतीय परम्परा में नितांत विलक्षण बनाता है। यों प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों से भिन्न होता है किंतु उनकी परस्पर भिन्नता उतनी आधारभूत नहीं होती जितनी शून्यवाद की है। यहां हम नागार्जुन तथा चन्द्रकीर्ति की तत्सम्बन्धी युक्तियों पर विचार करेंगे। उनके अनुसार—

1. तथागत असत् हैं, क्योंकि वे न स्कंध-रूप हैं, न अस्कंध-रूप। क्योंकि यदि उन्हें स्कंध-रूप कहें तो कर्त्ता-कर्म का अभेद आपन्न होगा और उनका उत्पाद-विनाश भी आपन्न होगा, यदि उन्हें स्कंध-भिन्न मानें तो वे स्कंध के बिना भी हो सकेंगे। इसलिए तथागत न स्कन्धात्मक हैं, न अस्कंधात्मक।

2. इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि बुद्ध अमल स्कंधों का उत्पादन कर प्रज्ञप्त होते हैं और अवाच्य हैं तो स्पष्ट है कि वे स्वभावतः नहीं हैं, केवल प्रतिबिम्ब के समान प्रज्ञप्त होते हैं। जो स्वभावतः नहीं वह···परभावतः भी नहीं होता। स्वभाव-परभाव के अतिरिक्त तथागत की तृतीय कोटि क्या होगी?

3. आगे वे कहते हैं कि तथागत प्रकृतितः शांत, निस्स्वभाव एवं प्रपंचातीत हैं, किंतु लोग अपने बुद्धिमान्द्य के कारण उनके सम्बन्ध में शाश्वत-अशाश्वत, शून्य-अशून्य आदि की कल्पनाएं करते हैं। किंतु वे यह नहीं समझते कि ये सभी प्रपंच वस्तुमूलक होते हैं और तथागत अवस्तु हैं, अतः प्रपंचातीत और अव्यय हैं। जैसे तथागत निस्स्वभाव हैं उसी प्रकार जगत् भी है। तथागत की निस्स्वभावता नागार्जुन इस प्रकार निरूपित करते हैं: "तथागत कुशल-अनास्रव धर्मों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। वस्तुतः तो न तथता है न तथागत हैं, केवल बिम्ब ही सर्व लोकों में दिखायी देता है।"[1]

अब यहां हम उपर्युक्त निरूपण का विवेचन करेंगे:

1. प्रथम युक्ति में तथागत को स्कंधात्मक या अस्कंधात्मक किसी भी प्रकार से निरूपित करने की असंभवता बतायी गई है, किंतु इसके लिए जो युक्ति दी गई है वह समीचीन नहीं है। वे कहते हैं कि यदि तथागत को स्कंध-भिन्न मानते हैं तो वे स्कंध के बिना भी हो सकेंगे। यहां दो आपत्तियों के लिए अवकाश है: प्रथम, कि तथागत के स्कंधों के बिना होने में क्या कठिनाई है? अनेक भारतीय दर्शन

1. तथागतोहि प्रतिबिंबभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य।
नैवात्र तथता, न तथागतोऽस्ति, बिंबंच संदृश्यति सर्व लोके।
(चन्द्रकीर्ति द्वारा उद्धृत प्रज्ञापारमिता सूत्र)

आत्मा को निर्गुण मानते ही हैं। दूसरे, तथागत को स्कंध-भिन्न मानने से यह अनिवार्य नहीं हो जाता कि उन्हें स्कंध के बिना भी माना जाय, जैसे वर्ण विस्तार से भिन्न है किंतु वह उससे वियोज्य नहीं है, वह उसके बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार, यदि आप आध्यात्मिक अस्तित्व को स्कंध के बिना अकल्पनीय भी पाते हों तो भी उसे स्कंधातिरिक्त मानने में कोई कठिनाई नहीं है, जैसे वर्ण को विस्तार से, उष्णता को प्रकाश से।

2. यह युक्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह स्पष्ट होता है कि नागार्जुन 'स्वभाव' पद का क्या अर्थ लेते हैं। यह पद उनके सम्पूर्ण प्रतिपादन में आधारभूत होने से इसके सम्बन्ध में स्पष्ट होना आवश्यक है। 'स्वभाव' पद से उनका अर्थ 'सास्रव' और 'स्कंधवान' होना है। इसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि उनके अनुसार निस्स्वभावता स्वभाव से उत्तर कोटि है और यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि यह सब कोटियों का निषेध है और इस निषेध में किसी उत्तर कोटि, अथवा कहें कोट्यतीत किसी सत्ता का संकेत ग्रहण नहीं है। तथागत का स्वरूप, अथवा कहें स्वरूपाभाव, वे इसी प्रकार निरूपित करते हैं। वे तथागत को अनास्रव और कुशल धर्मों का प्रतिबिम्ब मात्र कहते हैं। इससे ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि वे अनास्रव धर्म-संज्ञक किसी वस्तु या अवस्था को स्वीकार करते हैं जिसके वे लोक में प्रतिबिम्ब हैं, जैसे दर्पण में देह प्रतिबिंबित होता है। यदि प्रतिबिंबता मानी ही जाती है तो वह उसी प्रकार की होगी जैसे भयभीत मनः स्थिति में अवलोकित दैत्याकृति होती है। किन्तु वास्तव में इतना भी नहीं है। वे कहते हैं कि "तथागत का जो स्वभाव है वही स्वभाव जगत् का है, तथागत जिस प्रकार निस्स्वभाव हैं उसी प्रकार जगत् भी है।" यहां ऐसा प्रतीत होता है जैसे जगत् की निस्स्वभावता तथागत की निस्स्वभावता से तुलित की गई है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि यहां साध्य तथागत की निस्स्वभावता है जगत् की नहीं, क्योंकि वह पूर्वसिद्ध है। यह इस कारिका पर चन्द्रकीर्ति की टीका से भी स्पष्ट है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं :

"जगत् का नैस्स्वाभाव्य प्रत्यय-परीक्षादि द्वारा प्रतिपादित किया जा ही चुका है।" इसके आगे वे प्रज्ञापारमिता सूत्र को उद्धृत करते हैं :····"सम्पूर्ण जगत् मायोपम-स्वप्नोपम है। 'मायोपम' कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह मायामय नहीं होकर उसके अनुरूप है, माया और जगत् में अद्वयभाव है, अद्वैधीकार है। अर्हत भी मायोपम-स्वप्नोपम है, अर्हत्फल भी मायोपम है। प्रत्येकबुद्ध भी मायोपम-स्वप्नोपम है, सम्यक् सम्बुद्ध भी मायोपम-स्वप्नोपम है, सम्यक् सम्बुद्धत्व भी मायोपम-स्वप्नोपम है।" सुभूति के इस कथन पर उसको प्रपन्न देवपुत्रों को आश्चर्य होता है। तब सुभूति उन्हें कहते हैं—"देवपुत्रो, निर्वाण को भी मैं मायोपम-स्वप्नोपम कहता हूं, और किसी धर्म की तो बात ही क्या है।" इस पर उन्हें और

आश्चर्य होता है तो सुभूति कहते हैं—"देवपुत्रो, यदि निर्वाण से भी आगे कोई धर्म हो तो उसे भी मैं मायोपम-स्वप्नोपम ही कहूंगा। इस प्रकार माया और निर्वाण में अद्वयभाव है।" स्पष्टतः यह आत्यन्तिक निषेधवाद है, निरपेक्ष परतत्त्ववाद नहीं, जैसा कि प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति और प्रो० गोविन्दचन्द्र जी पांडे की मान्यता है। इसमें कोई सन्देह शेष नहीं रह जाये इसलिए यहां हम दो और उद्धरण देंगे। आत्म-परीक्षा (प्रकरण 18) में सातवीं कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति तथागतगुह्य सूत्र को उद्धृत करते हैं: "जैसे यंत्रीकृत तूरी वायु के झोंकों से बजती है, उसका कोई वादक नहीं होता और तब भी शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की वाणी निकलती है। जिस प्रकार प्रतिध्वनि के शब्द बाह्य या अन्तःस्थित नहीं होते उसी प्रकार बुद्ध की वाणी भी बाह्य और अतःस्थित नहीं है।"[1]

यह निषेध आत्यन्तिक निषेध ही है, किसी अगम-अवाच्य परतत्त्व का संकेत नहीं। इसके लिए चन्द्रकीर्ति एक और सर्वसंदेहोपशामक प्रमाण माध्यमिक का नास्तिक से भेद करके प्रस्तुत करते हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार नास्तिक से उनका भेद यह है कि वे जगत् की सांवृतिक सत्ता स्वीकार करते हैं। इस पर स्वभावतः आपत्ति होगी कि, "किन्तु परमार्थतः तो सब स्वप्नोपम-मायोपम है।" इसके उत्तर में वे कहते हैं "हाँ, इस प्रकार तो माध्यमिक की नास्तिक से अनुरूपता ही है, किन्तु प्रतिपादकता में भेद है। नास्तिक का निषेध ज्ञानपूर्वक नहीं है जबकि माध्यमिक का निषेध ज्ञानपूर्वक है।" इस ज्ञानपूर्वकता को वे उपमा से समझाते हैं: "जैसे कोई किसी चोर की चोरी को बिना जाने ही किसी शत्रु की प्रेरणा पर कहे कि उसने चोरी की है, और कोई दूसरा व्यक्ति उस चोर को चोरी करते देखकर वही बात कहे तो दोनों के वचन में तो समानता होगी किन्तु उनमें भाव-भेद होगा। उसी प्रकार माध्यमिक का सर्व-अनस्तित्व का प्रतिपादन और नास्तिक का सर्व अनस्तित्व का प्रतिपादन परस्पर भिन्न हैं।" चन्द्रकीर्ति का यह स्पष्टीकरण भी आत्मपरीक्षा-प्रकरण की सातवीं कारिका की व्याख्या के प्रसंग में ही है। चन्द्रकीर्ति के इस स्पष्टीकरण से नागार्जुन की इस प्रसिद्ध उक्ति का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है कि "निर्वाण और संसार एक ही हैं।"

नागार्जुन अभाववाद-नास्तिकवाद से माध्यमिक-मत का भेद यह कहकर भी करते हैं कि "शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद है, अभाव नहीं।" किन्तु जैसा कि हम पीछे

1. यथा यंत्रीकृतं तूर्यं वाद्यते पवनेरितम्।
न चात्र वादकः कश्चिन्निश्चरन्त्यथ च स्वराः॥
एवं पूर्वं सुशुद्धत्वात् सर्वं सत्त्वाशयेरिता।
वाग्निश्चरति बुद्धस्य, न चास्यास्तीह कल्पना॥

देख आये हैं, उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तु-स्वभाव के निषेध का, निरपेक्ष अभाव का, ही द्योतक है, यह सापेक्षतावाद नहीं है, जैसा कि श्चर्बात्स्की कहते हैं। अथवा आप चाहें तो इसे उस विशिष्ट अर्थ में सापेक्षतावाद भी कह सकते हैं जिस[1] अर्थ में इसका निष्कर्ष नैःस्वाभाव्य हो। इस भेद के स्पष्टीकरण में भी चन्द्रकीर्ति कहते हैं: "वस्तुओं का पारमार्थिक रूप वह है जो सम्यग्द्रष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है, किन्तु उसकी स्वरूप-सत्ता नहीं है। वस्तुओं का सांवृतिक रूप वह है जो पृथग्जन की दृष्टि का विषय है, किन्तु उसका भी स्वरूप असिद्ध है।"

मध्यमक शास्त्र में कुछ ऐसे कथन भी हैं जिनसे लगता है जैसे वहां परमार्थ की भाव-रूपता प्रतिपादित हो। जैसे—"जैसे तिमिर रोग से आक्रांत व्यक्ति अपने हाथ में पकड़े धान्यादि पुंज को केश-रूप में देखता है किंतु उसे शुद्ध दृष्टि वाला जिस रूप में देखता है वही तत्त्व है, वैसे ही अविद्या-तिमिर से उपहित अतत्त्व-द्रष्टा स्कंध, धातु, आयतन का जो सांवृतिक स्वरूप उपलब्ध करता है उसे ही अविद्या-वासना-रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते हैं वही परमार्थ सत्य है।" (आर्य-सत्य-परीक्षा) और पुनः, "परमार्थ सत्य की देशना किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती, क्योंकि जिसके द्वारा देशित होता है, जिसके लिए देशना करनी है, जिसकी देशना करनी है, ये सभी परमार्थतः अनुत्पन्न हैं। इसलिए अनुत्पन्न धर्मों से ही अनुत्पन्न धर्मों को बताया जा सकता है।" (वही) किन्तु ये प्रतिपादन केवल प्रकटतः ही भावात्मक हैं, वास्तव में ये भावात्मक नहीं हैं। इन प्रतिपादनों की प्रातीतिक भावात्मकता का कारण अशेष अभाव के कथन की असम्भवता है। अब, अनुत्पन्न धर्मों से अनुत्पन्न धर्मों को बताने का अर्थ यही है कि सांवृतिक धर्मों के द्वारा असांवृतिक धर्मों का कथन, और ये दोनों धर्म निस्स्वभाव हैं। उदाहरणतः नागार्जुन घट की "स्वभावतः विद्यमानता" के तात्पर्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं: "यदि पदार्थ स्वभावतः विद्यमान हैं तो वे हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होंगे। ऐसी स्थिति में कार्य-कारण, करण-कर्त्ता और क्रिया, उत्पाद-निरोध आदि फल सब बाधित होंगे। क्योंकि यदि घट स्वभावतः है तो उसे मृदादि हेतु-प्रत्ययों से क्या प्रयोजन? फलतः घट का अभाव होगा, क्योंकि घट निर्हेतुक नहीं होता। ऐसी अवस्था में चक्र-चीवरादि करण, कर्त्ता-कुंभकार तथा घट बनाने की क्रिया का अभाव होगा।" और आगे "इस शून्यता को ही वे उपादान-प्रज्ञप्ति कहते हैं। जैसे चक्रादि (रथ के अंगों) का उपादान कर रथ (उपादाय) की प्रज्ञप्ति होती है। जो अपने अंगों का उपादान कर प्रज्ञप्त होता है वह अवश्य ही स्वभावेन अनुत्पन्न होता है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है वही शून्य है।" (वहीं) यहां स्मरणीय है कि कोई भी बौद्ध अवयवी को अवयवों से ऊपर सत् नहीं मानता। इसी प्रकार निर्वाण

1. श्चर्बात्स्की—कंसेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण।

को नागार्जुन 'अप्रवृत्ति मात्र' कहकर परिभाषित करते हैं।

इस सबसे स्पष्ट है कि नागार्जुन का 'शून्यता' से अभिप्राय किसी असांवृतिक निरपेक्ष अद्वयतत्त्व से नहीं है बल्कि सर्वव्यापी शून्यता, निस्स्वभावता, अतत्त्वता से है।

25. निर्वाण-परीक्षा

निर्वाण का निरूपण नागार्जुन निम्न प्रकार से करते हैं—

1. अप्रहीणम्—अर्थात् जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता।

2. असंप्राप्तम्—जो श्रामण्य-फल के समान फलित नहीं होता—प्राप्त नहीं होता।

3. अनुच्छिन्नम्—जो स्कंधादि के समान उच्छिन्न नहीं होता।

4. अशाश्वतम्—जो सस्वभाव (अशून्य) पदार्थों के समान नित्य नहीं होता।

5. अनिरुद्धमनुत्पन्नम्—जो स्वभावतः न निरुद्ध होता है, न उत्पन्न होता है।

निर्वाण ऐसे लक्षणों से लक्षित होता है। ऐसी निष्प्रपंचता में क्लेशों की कल्पना करना तथा उनके प्रहाण से निर्वाण कहना, यह सब असिद्ध है। निर्वाण के पहले भी क्लेश नहीं हैं जिसके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध होगा, क्योंकि स्वभावतः विद्यमान का परिक्षय नहीं हो सकेगा। अतः निरवशेष कल्पनाओं का परिक्षय ही निर्वाण है। वे आगे कहते हैं—जैसे अन्धकार में रज्जु में सर्प उपलब्ध होता है किन्तु प्रकाश के उदय के साथ निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण में समस्त धर्म निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि अधंकारावस्था में भी रज्जु रज्जु ही था, सर्प नहीं था उसी प्रकार क्लेश-कर्मादि समस्त पदार्थ संसारावस्था में भी तत्त्वतः नहीं हैं।"

यहां सर्वप्रथम अन्तिम प्रतिपादन द्रष्टव्य है: रज्जु में सर्पोपलब्धि कल्पनामूलक होने से सर्प वस्तुतः नहीं है, इसी प्रकार क्लेश भी हैं: उनकी कोई वास्तविकता नहीं है। इसलिए उनके परिक्षय का भी कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, केवल कल्पना का परिक्षय ही अपेक्षित है। तो क्या जिस प्रकार अन्धकारावस्था में भी रज्जु रज्जु ही था, सर्प कभी कहीं था ही नहीं, उसी प्रकार संसार और निर्वाण हैं? अर्थात् संसार मात्र कल्पनामूलक होने से है ही नहीं, बल्कि केवल निर्वाण ही है और परिणामतः संसार तत्त्वतः निर्वाण ही है जिस प्रकार सर्प तत्त्वतः रज्जु ही है?

यहां दो प्रश्न प्रासंगिक हैं: प्रथम यह कि यदि क्लेश असत् हैं तो क्या कल्पना सत् है? यदि कल्पना भी सत् नहीं है तो उसके परिक्षय का भी कोई प्रश्न नहीं उठता, और यदि वह सत् है तो भी उसके परिक्षय का कोई प्रश्न नहीं उठेगा।

दूसरा प्रश्न है कि रज्जु के तत्त्वतः होने का क्या अर्थ है? क्या यही नहीं कि वह भाव, अभाव, भावाभाव, अभावाभाव कुछ भी नहीं है जिस प्रकार निर्वाण भी नहीं है। अब, यह समझ में आता है कि आप कहें कि 'ये सब कोटियां कल्पनात्मक और इस प्रकार अवस्तुपरक हैं, किन्तु तब इससे यह आपादित होता है कि तत्त्व या

निर्वाण इनसे अतिक्रान्त है। क्या आप यह कहने को तैयार हैं? इसी प्रकार कल्पना के लिए कहा जा सकता है कि वह भी असत् है, किन्तु कल्पना : अविद्या: की असत्ता कल्पनामूलक विषयों के जैसी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सम्पूर्ण असत् प्रपंच इसी का आश्रय करते हैं और प्रपंच के विपरीत इसका परिक्षय वास्तव में अपेक्षित है। वास्तव में महात्मा बुद्ध द्वारा 'अनादि वासना' और शंकर द्वारा 'मूलाविद्या' पदों का प्रयोग इस कल्पना या अविद्या के अतिरिक्त स्वरूप के ही कारण है। किन्तु मान लें कि अविद्या भी स्वरूपतः तन्मूलक विषयों के ही स्वरूप की है और इस सम्बन्ध में जो तार्किक समस्याएं उत्पन्न होती हैं उनके लिए हम कहते हैं कि वे तर्क की अपनी सीमाएं हैं जिनका समाधान हम तत्त्वसात् हुए बिना नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु कठिनाई यह है कि नागार्जुन तत्त्व को भी अतत्त्व ही कहते हैं। नागार्जुन इसका उत्तर दे सकते हैं, और वास्तव में वे इसका यही उत्तर देते प्रतीत होते भी हैं, कि हम तत्त्व को भी अतत्त्व इसलिए कहते हैं क्योंकि "तत्त्व कहने में भी एक अतात्त्विक आश्रय की कल्पना निहित है।" किन्तु संभवतः नागार्जुन यह नहीं कहते हैं। उदाहरणतः 'विपर्यास-परीक्षा' प्रकरण में वे कहते हैं "आत्मा के सम्बन्ध में जब अस्ति-नास्ति कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता तब उसके आश्रित अन्य धर्मों का अस्तित्व-नास्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है? क्योंकि क्लेश किसी का आश्रय लेकर सिद्ध होते हैं, वह आश्रय आत्मा ही हो सकता है जिसका पहले ही निषेध किया गया है। ऐसी अवस्था में बिना आश्रय के क्लेश कैसे होंगे? अर्थात् आत्मा अस्तित्व-अनस्तित्व की कोटियों से अतिक्रामी भाव नहीं, अभाव है। अविद्या या अनादि वासना को असत् कहने का कारण, उचित रूप से ही, यह है कि यदि यह सत् हो तो इसके परिक्षय की न संभावना रहती है और न औचित्य। इसलिए इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसका ज्ञान होने के साथ ही यह तिरोहित हो जाती है, जैसे भ्रांतिमूलक सर्प। वैसे शंकर भी माया को सदसद्-विलक्षण कहते हैं, किन्तु उस प्रसंग की यहां उपेक्षा की जा सकती है और दूसरे नागार्जुन उसे ऐसा नहीं कहते हैं। किन्तु यदि अविद्या को असत् कहा जाता है तब यह कहना कि "संसार तत्त्वतः निर्वाण या ब्रह्म ही है" उतना ही उपयुक्त या अनुपयुक्त होगा जितना यह कहना है कि "निर्वाण या ब्रह्म संसार ही है और संसार से ही हम निषेध द्वारा ब्रह्म आदि की कल्पना करते हैं।" हमारे विचार में मुलाविद्या का उसके अधिष्ठान-सहित निषेध करने पर इन दो विकल्पों में से दूसरे को चुनने को ही अधिक युक्तिसंगत कहा जा सकता है, क्योंकि तब संसार के निषेध, या उसकी अप्रवृत्ति के लिए कोई आधार नहीं रहता। किंतु शंकर का समाधान भी वास्तव में नागार्जुन से बहुत भिन्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान नहीं हो सकता, यद्यपि यह महत्त्वपूर्ण भेद अवश्य है कि ब्रह्म असत् प्रपंच का सत्: भावरूप:

अधिष्ठान है। इस समस्या का सर्वाधिक युक्त समाधान तैत्तिरीय उपनिषद् ने संसार को चित् का सर्जनात्मक कर्म, अथवा केवल सर्जनात्मक कर्म मात्र ही, कहकर प्रस्तुत किया है। दूसरा समाधान काश्मीर शैव दर्शन द्वारा अधिष्ठान को शिव-शक्ति कहकर प्रस्तुत किया गया है। इनमें कोई मौलिक भेद दिखायी नहीं देता, केवल यह उपनिषद् की तुलना में अधिक चित्रात्मक है।

शून्यता के स्वरूप पर सामान्य टिप्पणी

यहां विचारणीय है कि क्या सर्वशून्यता किसी प्रकार से अवधार्य है? इस पर कहा जा सकता है कि सर्वशून्यता को अवधार्य कहना वदतोव्याघात होगा, किन्तु एक-एक कर सब वस्तुओं और सम्बन्धों की शून्यता देखी जा सकती है और इससे सर्व-शून्यता निष्कृष्ट की जा सकती है। नागार्जुन ने एक प्रकार से **मध्यमक शास्त्र** में यही किया है। किन्तु इस प्रकार एक-एक कर विभिन्न वस्तुओं की शून्यता की सिद्धि से सर्व की शून्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो प्रत्येक वस्तु का निरूपण असम्भव है और दूसरे 'प्रत्येक' और 'सर्व' ये समान नहीं हैं। यदि जगत् की प्रत्येक वस्तु शून्य हो तो भी यह सम्भव है कि जगत् शून्य नहीं हो, क्योंकि एक-एक कर जगत् की सब वस्तुएं जगत् के लिए आगंतुक हैं और उनके नहीं होने से जगत् के तत्त्व या सत्त्व में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसी प्रकार, यदि जगत् असत् हो तो उसकी प्रत्येक वस्तु असत् तो होगी किन्तु इन वस्तुओं की यह असत्ता जगन्मूलक ही होगी, निजमूलक नहीं। उदाहरणतः जगत् को हम चित् का जगद्भाव कह सकते हैं, किन्तु इससे घट-पट आदि के निर्माण के कारण-कार्यभाव को या अग्नि-जल आदि के कारण-कार्य-नियमों को चित् का अग्निभाव या जल-भाव नहीं कह सकते। वेदांतियों और माध्यमिकों ने व्यावहारिक और अलीक के बीच भेद किया है, किन्तु वास्तव में व्यावहारिक और अलीक के बीच यही भेद है कि प्रथम व्यवहार-जगत् में सत् है जबकि दूसरा व्यवहार-जगत् में सत् नहीं है। किन्तु स्वयं व्यवहार-जगत् परमार्थतः अलीक से भिन्न नहीं है क्योंकि ख-पुष्पवत् वह केवल अभिधा है जिसका अभिधेय होना असंभव है। किंतु नागार्जुन प्रत्येक वस्तु को :अग्नि और अग्नित्व को, इन्धन और इन्धनत्व को, सबको: एक-एकशः असत् कहते हैं। यहां हर्षनारायणजी की एक अत्यन्त सूझपूर्ण प्रपत्ति पर विचार उद्बोधक होगा। वे नागार्जुन की हेगल से तुलना और भेद करते हुए कहते हैं कि "नागार्जुन हेगल के समान केवल तर्कसंगत (रैशनल)* को ही सत् मानते हैं, किंतु उनके अनुसार कुछ तर्कसंगत ही नहीं है, इसलिए कुछ सत् भी नहीं है।"[1] किन्तु तर्क-संगत को सत् की कसौटी बनाकर एक भेद का निवेश आवश्यक हो जाता है, विशेषतः जब आप

* 'रीज़न' शब्द का कोई एक अर्थ नहीं है, और संस्कृत में इस शब्द का कोई उपयुक्त पर्यायवाची शब्द नहीं है, न हेगल के लिए 'रीयल' का उपादान या लक्षणभूत जो 'रीज़न' है नागार्जुन के लिए वही सत् है। नागार्जुन के लिए यह रीज़न केवल तर्क या युक्ति है। इसलिए हमने 'रीज़न' का अनुवाद यहां 'तर्क' किया है।

1. 'शून्यवाद : ए री-इंटर्प्रिटेशन', फिलोसोफी ईस्ट एंड वैस्ट, हवाई (यू. एस. ए.) जनवरी 1964।

सब कुछ को अतर्कसम्मत : अयुक्त : कह रहे हों। किन्तु यदि आप स्वयं तर्क को भी आत्म-असंगत कह रहे हों, जैसाकि नागार्जुन कहते हैं, तब परिस्थिति असाध्य ही हो जाती है। हेगल ने अस्तित्व और सत् के बीच तो भेद नहीं किया किन्तु प्रतीति या प्रतिभास (अपीयरेंस) और सत् के बीच भेद किया है।[9] किन्तु नागार्जुन में यह भेद स्वीकृत नहीं है क्योंकि उनके अनुसार कुछ सत् ही नहीं है। वास्तव में नागार्जुन में एक दूसरी आधारभूत कठिनाई यह है कि वे प्रखर तार्किक और सूक्ष्म विचारक होते हुए भी तर्क और विचार के अपने स्वरूप पर विचार नहीं करते। उदाहरणत: वे अग्नि में दाहकता का निषेध करते हैं जबकि अग्नि स्पष्टत: दाहक है। तब कहा जा सकता है कि वे वास्तव में यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि अग्नि दहन करती है किन्तु अग्नि की दाहकता तर्क-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध, आत्म-बाधित है। किंतु यह कहने पर प्रश्न उठेगा कि यह दोष विचार का है या कि इन्द्रिय का, या कि अग्नि का ? भारतीय दर्शन के उन सम्प्रदायों का, जो वस्तुस्थिति को इस प्रकार देखते हैं, सामान्यत: उत्तर है कि यह दोष विचार का है, हेगल का उत्तर है कि यह दोष इन्द्रिय का है, किंतु नागार्जुन का उत्तर है कि यह दोष अग्नि का है। किंतु नागार्जुन की कठिनाई यह है कि वे स्वयं तर्क को भी तर्कासिद्ध प्रदर्शित करते हैं और उसी प्रकार की युक्तियों से जिस प्रकार की युक्तियों का प्रयोग वे भौतिक वस्तुओं की अतर्क-सम्मतता प्रदर्शित करने के लिए करते हैं। किंतु तब प्रश्न होगा कि यदि तर्क भी निस्स्वभाव है तब तर्क के असिद्ध होने पर कुछ निस्स्वभाव क्योंकर होगा ? **विग्रहव्यावर्तनी** में वे निस्स्वभावता के प्रतिपादक वाक्य की निस्स्वभावता को स्वीकार कर तज्जन्य परिणामों पर विचार करते हैं। किंतु यह समस्या इससे भिन्न है कि यदि तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित हो तो तर्क-संगति वस्तु-स्वभाव की प्रतिष्ठा कैसे कही जा सकती है ? तर्क यदि निस्स्वभाव है तो वह वस्तु-स्वभाव का निर्णायक नहीं हो सकता, वस्तु उसके लिए अगम्य ही रहेगी : 'तर्कानामप्रतिष्ठानात्' कहने वालों का भी एक सीमा तक यही मन्तव्य है। किंतु यदि वस्तु-निस्स्वभावता-प्रतिपादक वाक्य निस्स्वभाव हो तो इससे वस्तु-स्वभाव का निषेध आपन्न नहीं हो सकता। किन्तु इससे यह भी आपादित नहीं होता कि वस्तु

6. हेगल कांट के प्रसंग में ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर विचार करते हुए कहते हैं : यदि जगत् केवल घटनाओं का योग है तो इससे यह आपादित होता है कि यह केवल अस्थायी है और प्रातिभासिक भी है—तत्त्व और शक्ति से रहित। मनस् का (संवेदन से विचार के स्तर पर) यह आरोहण इस बात का संकेत है कि जगत् सत्ता की दृष्टि से केवल उसकी प्रतीति है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता, कोई निजी सत्य नहीं है। यह इस बात का संकेत है कि इस प्रतिभास से आगे और ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा ईश्वर में है। इस प्रकार 'वास्तव सत्' ईश्वर का ही पर्यायवाची है। (लॉजिक : अनुवाद, विलियम वैलेस, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, पृ. 82).

निस्स्वभाव नहीं है, यद्यपि 'तर्कानामप्रतिष्ठानात्' से यही आपन्न होता है कि वस्तु तर्क-प्रतिष्ठित होने से सस्वभाव और अप्रतिष्ठित होने से निस्स्वभाव नहीं होती क्यों कि तर्क आत्म-अप्रतिष्ठित है और अतएव वस्तु-स्वभाव के निर्धारण में असमर्थ है। किंतु तब भी यह सही है कि नागार्जुन वस्तुओं के स्वभाव का निषेध उनकी अतर्क-सम्मतता के आधार पर ही करते हैं। यदि वे यह निषेध केवल व्यावहारिक वस्तुओं की सस्वभावता का करते तो कहा जा सकता था कि व्यावहारिक वस्तुएं स्वभावतः तर्कगम्य ही हैं, इस कारण उनकी अतर्कसम्मतता से उनकी निस्स्वभावता सिद्ध होती है। और पुनः, उनकी तर्क-गम्यता उनकी तर्कमूलकता के कारण है इसलिए यदि तर्क स्वयं निस्स्वभाव है तो वे परमार्थतः भी निस्स्वभाव हो जाती हैं। किन्तु नागार्जुन केवल व्यावहारिक वस्तुओं की ही सस्वभावता का निषेध नहीं करते, वे निर्वाण, तथता और पारमिता प्रज्ञा की भी सस्वभावता का निषेध करते हैं और तर्क के आधार पर ही, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये वस्तुएं भी तर्कमूलक ही हैं और तर्क सबके स्वभाव की कसौटी है—स्वयं अपने स्वभाव सहित। इससे समस्या असाध्य हो जाती है: यदि अग्नि और तथता समान रूप से तर्क-प्रतिष्ठित किंतु अतर्कसम्मत हैं तो यह स्वरूपतः समान हो जाती हैं, और यदि सर्वप्रतिष्ठापक तर्क स्वयं भी अप्रतिष्ठित है तो अवश्य सब वस्तुएं अपने मूल में ही निस्स्वभाव हो जाएंगी किन्तु इससे तर्क की अप्रतिष्ठा प्रतिपन्न नहीं हो सकेगी। इस समस्या का नागार्जुन कोई समाधान करते हैं या नहीं इस प्रश्न पर हम **विग्रहव्यावर्तनी** की समीक्षा के प्रसंग में विचार करेंगे। किन्तु दो दूसरे प्रश्न हैं जो यहां विचारणीय हैं। प्रथम कि यदि वस्तु-स्वभाव तर्क-रचित है तब वस्तुएं अतर्कानुसारी कैसे हो सकती हैं? और दूसरे, यदि तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित है तो वस्तुएं तर्क-रचित कैसे हो सकती हैं? इनमें पहले प्रश्न का उत्तर होगा कि वस्तुएं तर्क-प्रत्यय की अभिव्यक्तियां होती हैं और ये अभिव्यंग्य प्रत्ययों के लिए एक सीमा तक ही सम्यक् होती हैं। अभिव्यक्तियों की अपने अभिव्यंग्य प्रत्ययों के लिए सम्यक्ता की यह अपर्याप्तता हम अपनी कृतियों में सदा ही देखते हैं। किन्तु स्पष्टतः वस्तुओं की इस अतर्कानुसारिता से वस्तु-निस्स्वभावता आपादित नहीं होती बल्कि सस्वभावता ही सिद्ध होती है, क्योंकि इनका स्वभाव तब वह प्रत्यय ही होगा जो इनका अभिव्यंग्य है। पर नागार्जुन वस्तुओं को तर्कतः असिद्ध दिखाते हैं, तर्कतः न्यून या अधिक सदोष नहीं दिखाते। किन्तु वस्तुएं तर्कतः असिद्ध, अपनी तार्किक रचना में आत्म-बाधित, कैसे हो सकती हैं? यदि कहें कि जैसे ख-पुष्प है, तो उत्तर होगा कि ख-पुष्प आत्म-बाधित नहीं है बल्कि वह वाक्य है जिसमें यह पद घटित होता है। हम जानते हैं कि न ख-पुष्प है और न हो सकता है, होने की इस तार्किक असम्भवता के उदाहरण के रूप में ही यह पद-रचना की गई है, किन्तु नागार्जुन प्रत्यक्षगत अग्नि, इन्धन, जाति, जरा, मरण आदि की भी तार्किक असम्भवता दिखाते हैं, और उस

पर से यह कहते हैं कि ये भी ख-पुष्पवत् हैं। यदि आप कहें कि ख-पुष्प तो दृष्टिगोचर नहीं है जबकि ये वस्तुएं या घटनाएं हैं, तो वे यह सिद्ध करने चलेंगे कि जो दिखायी देता है वह वास्तव में दिखायी नहीं देता, क्योंकि दिखायी देने का जो तर्क है उसके अनुसार दिखायी देना असंभव है। उदाहरणतः वे कहते हैं "···अतः जब चक्षु में आत्म-दर्शन नहीं है तो पर-दर्शन भी सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चक्षुरादि का नीलादि-दर्शन वादियों के स्वप्रसिद्ध अनुमान के ही विरुद्ध है।" (प्रत्यक्ष-परीक्षा) यह प्रतिपादन तर्कतः कहां तक युक्त है यह देखना यहां प्रासंगिक नहीं है, यह हम पीछे यथास्थान देख आये हैं, यहां केवल यह देखना प्रासंगिक है कि अतर्कानुसारिता के आधार पर वे किस प्रकार वस्तुओं की निस्स्वभावता प्रतिपादित करते हैं।

किन्तु यदि वस्तुओं की निःस्वभावता उनकी तार्किक आत्मबाधितता के कारण है तो इससे तर्क का सस्वभाव होना आपादित होता है, क्योंकि यदि तर्क निस्स्वभाव है तो तार्किक आत्मबाधितता वस्तुओं को निस्स्वभाव नहीं सिद्ध कर सकती चाहे इससे उनकी सस्वभावता भी सिद्ध नहीं होती हो। यहां माध्यमिक यह नहीं कह सकता कि "यद्यपि तर्क अनात्मप्रतिष्ठित है किन्तु वस्तुओं की प्रतिष्ठा उसी से हो सकती है, और क्योंकि वे तर्क-प्रतिष्ठित नहीं हैं इसलिए वे निस्स्वभाव हैं।" कोई यह तो कह सकता है कि वस्तु-जगत् तर्क-प्रतिष्ठित है किन्तु स्वयं तर्क अप्रतिष्ठित है, इसलिए वस्तु-जगत् व्यवहारतः प्रतिष्ठित होने पर भी परमार्थतः अप्रतिष्ठित है, किन्तु यह नहीं कह सकता कि यद्यपि तर्क अप्रतिष्ठित है किन्तु तब भी वस्तुओं की प्रतिष्ठा की वह कसौटी है, और वस्तुएं उससे रहित हैं और परिणामतः वे तत्त्व-शून्य, स्वभाव-शून्य हैं। नागार्जुन ने इस आपत्ति का उत्तर **विग्रह-व्यावर्तनी** में दिया है, इसलिए इस पर हम उस पुस्तक पर विचार के प्रसंग में विमर्श करेंगे।

2

विग्रहव्यावर्तनी

विग्रहव्यावर्तनी का मुख्य प्रतिपाद्य तर्क को अप्रतिष्ठित मानने से उत्पन्न समस्याओं पर विचार ही है। इस प्रश्न के अतिरिक्त इसमें विचारित शेष प्रश्न **मध्यमक शास्त्र** में भी उठाये गये हैं और वहां इन पर अधिक गहराई से विचार हुआ है। वास्तव में **मध्यमक शास्त्र** में यह प्रश्न भी उठाया गया है और वहां भी उसका वही उत्तर दिया गया है जो **विग्रहव्यावर्तनी** में दिय। गया है, किन्तु **विग्रहव्यावर्तनी** में यह प्रश्न विस्तार से और प्रथम प्रश्न के रूप में उठाया गया है। **मध्यमक शास्त्र** में यह प्रश्न 24वें प्रकरण में इस प्रकार उठाया गया है : "मध्यमक सिद्धान्त में जब परमार्थ निष्प्रपंच-स्वभाव है तो भगवान् ने अपरमार्थभूत स्कन्ध, धातु, आयतन, चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि की देशना क्यों की है ? अतत्त्व परित्याज्य होता है और परित्याज्य का उपदेश करना व्यर्थ है।" इसका उत्तर दिया गया है कि "व्यवहार (अभिधानअ-भिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि) के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना असंभव है" : सत्यमेतदेवम्, किन्तु लौकिक व्यवहारमनभ्युपगम्य अभिधानाभिधेय, ज्ञानज्ञेयादिलक्षणं अशक्य एव परमार्थो देशयितुम, अदेशितश्च न शक्योऽधिगंतुम्, अनधिगम्य च परमार्थं न शक्यं निर्वाणमधिगन्तुमिति।"[1] किन्तु जैसाकि अभी हम देखेंगे, **विग्रहव्यावर्तनी** में उपर्युक्त समस्या अधिक सीधे और अधिक तार्किक स्तर पर उठाई गई है। किंतु हमारे विचार में वहां भी इस समस्या का समाधान संतोषजनक नहीं है। पूर्वपक्ष के रूप में समस्या इस प्रकार उठायी गई है : (1) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तो उनकी शून्यता का प्रतिपादक वाक्य 'सब पदार्थ शून्य हैं' भी शून्य होगा क्योंकि वह भी सब पदार्थों के अंतर्गत है और उसके शून्य होने पर सब पदार्थों की अशून्यता अक्षत रहती है और ऐसी स्थिति में 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह प्रतिषेध भी अनुपपन्न हो जाता है। (2) दूसरी ओर, यदि यह मान लिया जाय कि सर्वशून्यता की उक्ति उपपन्न है, तो वह उक्ति स्वयं शून्य हो जायगी तथा शून्य उक्ति के द्वारा शून्यता का प्रतिपादन नहीं हो पाएगा। (3) और यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा इसके साथ ही इस शून्यता की उक्ति शून्य नहीं है तो यह उक्ति सर्वत्र असंगृहीत होगी, अर्थात् पदार्थ-समष्टि के बहिर्भूत होगी। पदार्थ

1. 24/9 पर चन्द्रकीर्तिकृत टिप्पणी।

अशून्य हो नहीं सकता तथा शून्यता की उक्ति अशून्य है, ये दोनों परस्पर असमंजस हैं। (4) यदि शून्यता की उक्ति को संगृहीत माना जाय और उसके साथ ही सब पदार्थों को शून्य, तो वह उक्ति पुनः शून्य हो जाएगी और प्रतिषेध में अक्षम हो जाएगी। (5) यदि उक्ति शून्य है किन्तु शून्य होते हुए भी उसके द्वारा अशून्यता का प्रतिषेध किया जा सकता है तो शून्य होते हुए भी सब पदार्थ अर्थक्रिया में समर्थ हो जाएंगे, किन्तु तब शून्यता अस्तिता का नामांतर होगी, जोकि दृष्टांत-विरुद्ध है। (6) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा कार्य करने में असमर्थ हैं तो शून्यता की प्रतिपादक उक्ति के शून्य होने के कारण सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध युक्त नहीं है। संक्षेप में, शून्यवाद के समर्थन में सदैव तार्किक विषमता उत्पन्न होना अनिवार्य प्रतीत होता है—सब शून्य मानते हुए अंततः कुछ शून्य और कुछ अशून्य मानना पड़ता है और इस प्रकार की विषमता में कोई हेतु नहीं दिया जा सकता।"

इसका उत्तर नागार्जुन इस प्रकार देते हैं—"निश्चय ही मेरा वचन शून्य है क्योंकि यह अन्य सब पदार्थों के समान हेतु-प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा करके उत्पन्न होता है। किन्तु इस हेतु-प्रत्यय सामग्री में, उसे समस्ततः या व्यस्ततः लेते हुए, यह उपलब्ध नहीं होता। किन्तु मेरे वचन की शून्यता से सब भावों की निस्स्वभावता ही सिद्ध होती है, सस्वभावता नहीं।"[2] (कारिका 21)

स्पष्टतः इस उत्तर में पूर्वपक्ष से कन्नी काटी गई है, क्योंकि पूर्वपक्ष सब पदार्थों में उक्ति को भी संगृहीत करने पर शून्यता-प्रतिपादन की असंभवता दिखा रहा है। दूसरे शब्दों में, उसके अनुसार माध्यमिक द्वारा शून्यता-प्रतिपादन, प्रतिपत्ति ही के शून्य होने से, आत्मबाधित हो जाता है।

आगे 22वीं कारिका में इस समस्या के समाधान का एक दूसरी विधि से प्रयत्न किया गया है। इसमें नागार्जुन कहते हैं—"शून्यता अर्थात् निस्स्वभावता का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्नता।" (अभावरूपता नहीं) और प्रतीत्यसमुत्पन्न उनके अनुसार वह है जो क्रियासमर्थ हो। क्योंकि जैसाकि हमने पीछे देखा, नागार्जुन के अनुसार स्वभाववान वह होता है जो न किसी अन्य से उत्पन्न होता है और न किसी अन्य को उत्पन्न करता है। इस कारिका की वृत्ति में वे कहते हैं "जिस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पन्न और इस प्रकार निस्स्वभाव होने पर ही रथ-पट-घट आदि अपने-अपने कार्यों : काष्ठ, तृण, मृत्तिकाहरण, मधूकपय-संधारण, शीतवातातप परित्राणादि कार्य करने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार मेरा वचन प्रतीत्यसमुत्पन्न और इस प्रकार निस्स्वभाव होने पर भी भावों के निस्स्वभावत्व-कथन में समर्थ

2. युक्तियों का यह प्रस्तुतीकरण प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे कृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास के अनुसार किया गया है। द्र. पृ. 373-74.

है। आप जो आपत्ति करते हैं कि निस्स्वभाव होने के कारण आपका वचन शून्य है और उसके शून्य होने से उसके द्वारा सर्वभाव-स्वभाव का कथन अनुपपन्न है तो उसका हमारा उत्तर है कि जिस प्रकार कोई निर्मितिक माया-पुरुष माया से सृष्ट किसी अन्य निर्मितिक पुरुष को रोके उसी प्रकार यह प्रतिषेध है।"

किन्तु स्पष्टतः रथ-पट-घट आदि के कार्य निर्मितिक पुरुषों के कार्यों के समान अवास्तविक नहीं हैं। माध्यमिक एक ओर निस्स्वभावता को कार्य-सामर्थ्य कहता है और इसी प्रकार उसका वस्तुओं की अवास्तविकता से भी भेद करता है, दूसरी ओर वह निर्मितिक से उन्हें उपमित कर वस्तुओं और कार्यों की अवास्तविकता का प्रतिपादन करता है। और जैसाकि हम मध्यमकशास्त्र के प्रसंग में देख आये हैं, नागार्जुन के अपने प्रतिपादन के अनुसार वस्तुओं और उनके कार्यों का स्वरूप अतर्कसंगत होने के कारण व्यहारोचित भी नहीं ठहरता, वह अलीक ही ठहरता है।

किन्तु निर्मितिक की स्थिति दूसरी है। निर्मितिक अवास्तविक तो होता है किन्तु वह न अलीक होता है और न निस्स्वभाव : स्वभाव के उस अर्थ में जिस अर्थ में निर्मितिक अनिर्मितिक से भिन्न होता है। निर्मितिक इसलिए अवास्तविक है क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है किन्तु वह होता नहीं है, और इसी आधार पर नागार्जुन उसे निस्स्वभाव भी कह रहे हैं। किन्तु निर्मितिक को हम सस्वभाव इसलिए कह रहे हैं क्योंकि वह अनिर्मितिक-मूलक होता है। 27वीं कारिका में नागार्जुन कहते हैं : "तथागत ने किसी कामी व्यक्ति की आसक्ति को समाप्त करने के लिए एक माया-स्त्री और एक माया-भिक्षु का निर्माण किया। यह माया भिक्षु उस व्यक्ति को माया-स्त्री की मायारूपता दिखाकर उसे उसकी कामासक्ति से मुक्त करता है।" अब इस व्याख्या में स्पष्टतः तथागत, कामी पुरुष और उसकी कामासक्ति वास्तविक और सस्वभाव हैं और निर्मितिक तथागत में अधिष्ठित है और निर्मितिक स्त्री का कार्य कामी की कामुकता में वास्तविक है। इसलिए निर्मितिक अवास्तविक होने पर भी सस्वभाव हो जाते हैं और उनका कार्य वास्तविक हो जाता है।

किन्तु नागार्जुन को वास्तव में यह अभिप्रेत नहीं है, उन्हें निर्मितिक अनधिष्ठित रूप में ही अभिप्रेत है[4] और इस प्रकार निषेधक, निषेध और निषिद्ध तीनों उनके अनुसार अवास्तविक और निस्स्वभाव हैं। यदि यहां उनसे पूछें कि तब निर्मितिकता का प्रयोजन क्या है? तो वे उत्तर देंगे, यह पूछना ही हमारे अभिप्राय को नहीं समझना है, क्योंकि प्रयोजन की मांग ख-पुष्प की सुगन्ध की माँग जैसी

4. यद्यपि इस कारिका की वृत्ति में वे यही कहते हैं कि "तथागताधिष्ठानेन वा सः तस्य तमसद्ग्राहं विनिवर्तयेत।"

है। **मध्यमक-शस्त्र** में हम देख आये हैं कि वे तथागत को भी वास्तविकों और स्वभाववानों की श्रेणी में नहीं रखते। यद्यपि **विग्रहव्यावर्तनी** में ऐसी बात नहीं है किन्तु उनकी व्यवस्था में संगत यही है। किन्तु तब और अधिक मूलगामी समस्या उत्पन्न होती है कि निर्मितिक के नितान्त निर्मितिक : अनधिष्ठित : होने पर निर्मितिक अनिर्मितिक से भिन्न किस आधार पर होगा ? यहां नागार्जुन यदि आपत्ति करें कि 'यह निरपेक्ष अभाव को सापेक्ष बनाना है, क्योंकि केवल सापेक्ष अभाव ही भाव की सापेक्षता में देखा जा सकता है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि सापेक्ष अभाव सापेक्ष भाव से वस्तुतः ही भिन्न और विरुद्ध होता है किन्तु निरपेक्ष अभाव निरपेक्ष भाव से अभिन्न ही नहीं अविश्लेष्य भी होता है। यही बात निषेधक वचन के सम्बन्ध में है—निषिद्ध स्वभाव-निषिद्ध होता है और निषेधक वचन निस्स्वभावताप्रतिपादक। अब यदि वचन भी निस्स्वभाव हो तो यह आत्म-निषिद्ध होगा। यदि इस आत्मनिषिद्ध को "निषेध का निषेध अतएव भाव ख्याति" ऐसा नहीं भी कहें क्योंकि यह विकल्पमूलक तर्क है और माध्यमिक का प्रतिपादन उससे बाहर है, तो भी आत्मनिषिद्ध निषेध निषेधक नहीं रहेगा, वह विधिरूप चाहे नहीं भी हो। यहां विधि और निषेध अभिन्न होंगे। अब निर्मितिक के उदाहरण में निर्मितिक भिक्षु निर्मितिक स्त्री का परिहार कैसे करता है ? स्त्री को निर्मितिक दिखाकर। किन्तु उसके स्वयं भी निर्मितिक होने से इस प्रदर्शन के द्वारा वह आत्म-प्रदर्शित भी हो जाता है। किन्तु यदि वह व्यक्ति भी निर्मितिक हो जिसके काम का निवारण निर्मितिक भिक्षु करता है तो यह आत्म-प्रदृष्ट निर्मितिक अनिर्मितिक से भिन्न नहीं हो सकता। निर्मितिकता का यह संपूर्ण व्यापार कम से कम दो व्यक्तियों के अनिर्मितिक होने पर निर्भर है, एक, जिसके लिए निर्मितिकों का प्रवर्तन हुआ है और दूसरा, जो प्रवर्तन करता है।

अब, प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्बन्ध में नागार्जुन कहते हैं कि "घट-पट आदि जलाहरण, शीतातपवारण आदि करते ही हैं यद्यपि वे निस्स्वभाव हैं।" किन्तु यहां दो प्रश्न हैं : प्रथम यह कि यदि ये कार्य करते हैं तो वे निस्स्वभाव किस प्रकार हैं ? क्योंकि किसी कार्य-समर्थ वस्तु का स्वभाव उस सामर्थ्य को ही कहा जा सकता है। घट का जल-आहरणयोग्यता और इन्धन का इध्यता यही स्वभाव कहे जाएंगे, अन्यथा आप दूसरे किस स्वभाव की बात करते हैं ? दूसरे, प्रतीत्य-समुत्पन्न वस्तु उत्पन्न होने से स्थितिशील भी होगी ही, इस प्रकार वस्तुओं का अस्तित्व भी इससे सिद्ध होता है। यदि स्थिति अत्यल्पकालिक भी हो तो भी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि निरवधिक काल में अवधि वस्तु के स्वभाव को प्रभावित नहीं करती और नागार्जुन अस्तित्ववान को निस्स्वभाव नहीं स्वीकार करते, बल्कि कहें, वे अस्तित्व और स्वभाव में भेद ही नहीं करते। इसी से वास्तव में वे इन वस्तुओं को निस्स्वभाव के साथ अस्तित्व-रहित भी मानते हैं।

किन्तु गम्भीरतम कठिनाई यह है कि वे उत्पत्ति को भी स्वीकार नहीं करते; उनके अनुसार वह भी अयुक्त कल्पना है, जैसाकि **मध्यमक शास्त्र** पर विचार के प्रसंग में हम देख चुके हैं। अब यदि उत्पत्ति असंभव है तब प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर कार्यसामर्थ्य की बात भी नहीं की जा सकती और इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि वचन यद्यपि निस्स्वभाव है किन्तु यह निस्स्वभावता प्रतीत्यसमुत्पादपरक होने से निषेध करने में समर्थ है।

वास्तव में वे प्रतीत्यसमुत्पाद को भी दो प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। एक, कि वस्तु हेतु-प्रत्ययों की सापेक्ष होने से निस्स्वभाव है, और दूसरे यह कि वह अपने हेतु-प्रत्ययों में उपलब्ध नहीं होने से निस्स्वभाव है। अब इन दो से संयुक्त रूप से यह आपादित होता है कि यद्यपि वस्तु की उत्पत्ति हेतु-प्रत्ययों के होने पर होती है किन्तु यह वस्तु उन हेतु-प्रत्ययों में अपचेय नहीं होती। क्योंकि यह अपचेय तब होती यदि यह उन हेतु-प्रत्ययों की समस्तता या व्यस्तता में विद्यमान होती। उदाहरणतः हमने अपनी पुस्तक **ज्ञान और सत्** में यह प्रतिपादित किया था कि सत्ता अवधारणा-सापेक्ष होती है, उसका अवधारणा-निरपेक्ष कोई निजी तत्त्व नहीं होता, और इसके लिए युक्ति यह दी थी कि घटनाएं या वस्तुस्थितियां हमें अवधारणात्मक रूप में ही प्रस्तुत होती हैं, निरपेक्ष निजता में नहीं, और इस प्रकार देश-कालगत तथाकथित एक वस्तुस्थिति वास्तव में दो वर्गीकरणों में सर्वथा दो भिन्न वस्तुस्थितियां होती है। अब, इस सिद्धान्त के अनुसार, यद्यपि कोई वस्तुस्थिति अस्तित्वतः 'एक' होती है किन्तु अर्थतः या स्वरूपतः वह अस्तित्व दो भिन्न वस्तुओं का अधिष्ठान होता है। इस प्रकार वस्तु का यह स्वरूप उस व्याख्या-सन्दर्भ में अपचेय होता है जिस व्याख्या के निष्कर्ष के रूप में वह देखी जाती है। इसके उदाहरण रूप में किसी छटपटा रहे व्यक्ति को लिया जा सकता है जिसे एक देखने वाला प्रेत-बाधाग्रस्त कहता है और दूसरा रोग-ग्रस्त। इस प्रकार हमने वहां वस्तु को 'वस्तु' के बजाय 'वस्त्वर्थ' कहा था और उसका कोई प्रदत्त रूप स्वीकार नहीं किया था। किन्तु नागार्जुन वस्तु को उसके अर्थ या स्वरूप-पक्ष में नहीं बल्कि उसके अस्तित्व पक्ष में ही देखते हैं और इस प्रकार वस्तु का भाव :सत्त्वः उनके लिए उसका अस्तित्वमात्र है। अब इस भाव को वे एक ओर अन्य-सापेक्ष कहकर स्वत्वरहित, स्वभाव-रहित कहते हैं और दूसरी ओर उसे अन्य में : हेतु-प्रत्ययों में : नहीं पाकर स्वभाव-रहित कहते हैं। इसका कारण वस्तु के अस्तित्व और स्वरूप में व्यामिश्र है। उदाहरणतः घट मृत्तिका, कुम्भकार, चाक आदि हेतु-प्रत्ययों के होने पर होता है, किन्तु उसका घटत्व : जल-धारण-योग्यता : उनमें नहीं होती। अब, यदि यह सही है तो इससे यही आपादित होता है कि घट की उत्पत्ति अपनी पूर्वगामी कुछ विशिष्ट घटनाओं की अपेक्षा कर घटित होती है किन्तु उसका अस्तित्व विशिष्ट होता है, क्योंकि वह आगामी घटना के लिए हेतु

बनती है, और घट का स्वरूप : घटत्व : अपने हेतु-प्रत्ययों में अनुपलब्ध होने से नितांत नव्योत्पन्न होता है। यदि अस्तित्व और स्वरूप में भेद नहीं भी करें तो भी नागार्जुन के प्रतिपादन में यह दोष है कि एक ओर वे वस्तु-स्वभाव को हेतु-प्रत्ययों का साक्षेप होने से असत् कहते हैं और दूसरी ओर उनमें अविद्यमान होने से असत् कहते हैं। किन्तु वास्तव में वस्तु दोनों प्रकार से निस्स्वभाव सिद्ध नहीं होती, क्योंकि पहली दृष्टि के अनुसार उसका स्वभाव वे हेतु-प्रत्यय होंगे जिनकी सापेक्षता में वह घटित होती है : जैसे छटपटाता हुआ व्यक्ति या तो प्रेतबाधित्व स्वभाव-वान है अथवा रोग-स्वभाववान : और दूसरी दृष्टि के अनुसार वह निरपेक्ष स्वभाववान होगी। किन्तु कठिनाई यह है कि मध्यमकशास्त्र में नागार्जुन उत्पत्ति को भी अयुक्तिसिद्ध कहते हैं। इससे प्रतीत्यसमुत्पाद का भी कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि भावों की उत्पत्ति ही नहीं होती : अनुत्पादम् : और न निरोध होता है : अनिरोधम्। किन्तु तब न कुछ प्रतीत्य होगा और न उत्पाद। किन्तु यदि ऐसा है तब इसका क्या अर्थ रह जाता है कि (1) भाव इसलिए स्वत्व से रहित हैं क्योंकि वे अन्यापेक्षी हैं, अथवा (2) वे इसलिए निस्स्वभाव हैं क्योंकि उनके हेतु-प्रत्ययों में उनका कोई भाव उपलब्ध नहीं होता ? हमारे विचार में इसका नागार्जुन के पास कोई उत्तर नहीं है।

किन्तु इस प्रतिपत्ति को एक दूसरे प्रकार से समझा जा सकता है। वह है 'स्वभाव' को 'अस्तित्व' से पृथक् करके, जिसकी ओर हमने पीछे संकेत किया था। मान लें कि मैं अपने से अपने अर्थ, अपने भाव, या स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करता हूं और उसका उत्तर या तो यह पाता हूं कि मैं या तो पूर्णतः आगन्तुक और अवश हूं अथवा पूर्णतः पर-तंत्र, जो पर पूर्णतः यदृच्छावान है। तब मैं अपने अस्तित्व में निषिद्ध नहीं होकर भी स्वभाव में निषिद्ध रहता हूं। यह स्थिति हेगल की व्यवस्था से ईश्वर को निकाल देने पर अथवा हमारी[5] व्यवस्था से भाव्य या सत् को निकाल देने पर होगी। वास्तव में बुद्ध के "सब्बं खनिकं-खनिकम्, सब्बं दुःखं-दुःखम्" से भी यही अर्थ निकलता है। इसी प्रकार, चिड़िया अपने बच्चों को अगाध प्रेम करती है और बिल्ली उन्हें आकर खा जाती है। यदि ये दोनों बातें एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत हैं तो यह एक भीषण निरर्थकता की स्थिति है, यह आत्म-बाधितता और आत्मनिषिद्धता की स्थिति भी है। किन्तु तब भी इसमें उत्पत्ति और अस्तित्व निषिद्ध नहीं हैं। अन्यत्र[6] हमने देखा है कि किस प्रकार पाशव जीवन भाव्यता या अपर्याप्तता-बोध से रहित होने के कारण सत्-रहित अस्तित्व की आवृत्ति और बहुलीकरण मात्र होता है। इस प्रकार सत् और अस्तित्व,

5. द्रष्टव्य हमारी पुस्तकें 'मनुष्य और जगत्' तथा 'सत्ताविषयक अन्वीक्षा'।
6. 'सत्ताविषयक अन्वीक्षा' में मुख्यतः 'सत्ता और अपर्याप्तता' तथा 'इतिहास-तत्त्व' अध्याय।

कम से कम स्वरूप और अस्तित्व, एक ही बात नहीं हैं। अब, नागार्जुन स्वयं व्यवहार और परमार्थ का भेद करते हैं और व्यवहार को अधिगत किन्तु असत् मानते हैं। मान लें कि आप सत् और अस्तित्व में भेद नहीं करते और इस प्रकार परमार्थ को सत् नहीं मानते, केवल निराकृत व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं। किन्तु तब भी व्यवहार-निराकरण एक प्रक्रिया है और इसकी असत्ता इसके अस्तित्व में है और इसका साध्यार्थ : परमार्थ सत् : इसके अनस्तित्व में। इस प्रकार नागार्जुन का स्वभाव, अस्तित्व आदि की परीक्षा का सन्दर्भ नितांत संकुचित और भ्रांतिपूर्ण ठहरता है। उनके संदर्भ की संकुचितता तब अत्यधिक मुखर हो जाती है जब वे प्रतीत्यसमुत्पाद को समान रूप से भौतिक वस्तुओं, भावनाओं और मूल्यान्वेषणों पर लागू करते हैं। उदाहरणतः वे **मध्यमकशास्त्र** के 23वें प्रकरण "विपर्यास-परीक्षा" में कहते हैं "राग, द्वेष और मोह संकल्प से उत्पन्न होते हैं। शुभ आकार की अपेक्षा से राग, अशुभ की अपेक्षा से द्वेष और विपर्यास की अपेक्षा से मोह उत्पन्न होता है। इन तीनों की उत्पत्ति में साधारण कारण संकल्प है। इन शुभ, अशुभ और विपर्यासों की अपेक्षा कर उत्पन्न होने के कारण रागादि अकृत्रिम (सस्वभाव) और निरपेक्ष सिद्ध नहीं होंगे।" इसमें राग, द्वेष आदि ठीक उसी रूप में कल्पित हैं जिस रूप में अग्नि, इन्धन आदि कल्पित हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा का निषेध है। पीछे हम देख आये हैं कि वे तथागत और निर्वाण का भी इसी प्रकार निषेध करते हैं। इस प्रकार उनके लिए सम्पूर्ण जगत् एक-स्तरीय है, जबकि वास्तव में जगत् के अनेक स्तर हैं।

3

शून्यताविषयक कुछ अन्य मतों की समीक्षा

पीछे हमने **मध्यमकशास्त्र** की युक्तियों की परीक्षा की और नागार्जुन के दार्शनिक प्रतिपाद्य पर संक्षेप में विचार किया। उसी प्रसंग में हमने उनकी **विग्रह-व्यावर्तनी** की प्रासंगिक युक्तियों और दार्शनिक प्रतिपाद्य पर भी विचार किया। नागार्जुन के दार्शनिक प्रतिपाद्य पर अन्य भी असंख्य आधुनिक विद्वानों ने विचार किया है किन्तु हमने उनमें प्रायः किसी का उल्लेख नहीं किया सिवाय प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे, प्रोफेसर टी० आर० वी० मूर्ति और डा० हर्षनारायण के। यहां हम नागार्जुन के मन्तव्य पर आगे विचार के प्रसंग में इनके मतों पर कुछ और विचार करेंगे और उनके साथ श्चर्बात्स्की के मत पर भी विचार करेंगे। इनमें प्रो० मूर्ति और श्चर्बात्स्की में प्रायः ऐकमत्य है कि नागार्जुन न केवल सर्वनिषेधवादी ही नहीं हैं बल्कि अतिक्रान्त भाववादी-वस्तुवादी हैं। श्चर्बात्स्की ने तो यहां तक दावा किया है कि नागार्जुन बुद्ध के धर्मकाय को परमार्थ सत् के रूप में स्वीकार करते हैं जो वैदान्तिक ब्रह्म से अभिन्न-स्वरूप है। हमारे विचार में ये दोनों मत निराधार हैं। डा० हर्षनारायण का मत हमारे मत के अनुरूप है जैसा कि हम पीछे भी देख आये हैं। यहां हम उनके एक दूसरे लेख की चर्चा करेंगे। श्चर्बात्स्की और मूर्ति ने किस प्रकार अपने विचार का नागार्जुन पर बर्बस अध्यारोप किया है इसके उदाहरण-स्वरूप हम उनकी पुस्तकों से एक-एक उद्धरण देंगे। श्चर्बात्स्की नागार्जुन की निर्वाण की अवधारणा की व्याख्या करते हुए कहते हैं: "विश्व-विषयक अपनी अद्वैतवादी अवधारणा (मोनिज़्म) के अनुरूप ही नागार्जुन का यहां कहना है कि परमार्थ (एब्सोल्यूट) और व्यवहार (फ़िनामिनल) में कोई अन्तर नहीं है। विश्व अपनी समग्रता में (यूनीवर्स ऐज़ ए होल) परमार्थ है और वही प्रक्रिया के रूप में देखे जाने पर व्यवहार-जगत् है। नागार्जुन कहते हैं कि :

य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा,
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते। 25.9

अर्थात् कारण-कार्य-परंपरा के रूप में देखे जाने पर जो विश्व व्यवहार-जगत् है वही कारण-कार्य-परंपरा से निरपेक्ष देखे जाने पर निर्वाण (एब्सोल्यूट) है।"[1]

1. दि कंसेप्शन आफ बुद्धिस्टिक निर्वाण, द्वितीय संशोधित और परिवर्धित संस्करण, पृ. 56, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.

अब यहां श्चर्बात्स्की ने 'निर्वाण' का अनुवाद 'एब्सोल्यूट' किया है और इसी से सब कुछ बदल जाता है। 'परमार्थ' का अनुवाद भी वे एब्सोल्यूट ही करते हैं जोकि नागार्जुन के मन्तव्य से स्पष्टतः असंगत है, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं। 'निर्वाण' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जबकि कारण-कार्य-परंपरा का उपशम है, नागार्जुन को अभिप्रेत अर्थ क्या है यह हम पीछे देख आये हैं और आगे प्रसंगानुसार पुनः देखेंगे। किन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह देखना है कि श्चर्बात्स्की ने इस कारिका का अर्थ इसे प्रसंग से हटा कर किया है। चन्द्रकीर्ति इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं: "यह आजवंजवीभाव, जन्म-मरण-परंपरा, कभी हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रयण कर प्रज्ञप्त होती है—ह्रस्व-दीर्घ के समान, कभी उत्पद्यमान रूप में प्रज्ञप्त होती है—बीजांकुर के समान। यदि हम मानें कि यह सर्वथा भाव का उपादान कर प्रज्ञप्त होती है, अथवा अन्य की अपेक्षा कर :प्रतीत्य: उत्पन्न होती है तो जो जन्म-मरण-परंपरा भाव का उपादान कर अथवा अन्यापेक्षा से व्यवस्थापित की जाती है वही अनन्यापेक्ष्य, अनुपादाय रूप अथवा अप्रवृत्ति रूप से व्यवस्थापित की जाती है। किन्तु निर्वाण अप्रवृत्तिमात्र या भावाभाव रूप में कल्पनीय नहीं है। अर्थात् निर्वाण भाव-रूप या अभाव-रूप नहीं है।"[2] अब, चन्द्रकीर्ति की यह व्याख्या पिछली कारिकाओं के प्रसंग के अनुसार है जबकि श्चर्बात्स्की ने इस कारिका के 'यः' और 'सः' को प्रसंग से निकाल कर इसका अपने पूर्वग्रह के अनुसार अर्थ किया है। श्चर्बात्स्की का यह आग्रह उनकी संपूर्ण व्याख्या में परिलक्षित होता है। यही बात प्रोफेसर टी० आर० वी० मूर्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उदाहरणतः उन्होंने कारिका 27.8 को उद्धृत करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नागार्जुन आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। यह कारिका निम्न प्रकार से है:

> एवं नान्य उपादानान्न चोपादानमेव सः,
> आत्मा नास्त्यनुपादानः नापि नास्त्येव निश्चयः। 27.8

इस कारिका में स्पष्टतः आत्मा के अनस्तित्व-कथन का निषेध प्रतिपादित प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह प्रसंग वास्तव में दृष्टिविषयक है, और यह हम सम्यक् रूप से जानते हैं कि नागार्जुन ने दृष्टिमात्र का, निषेध-दृष्टि के सहित, निषेध किया है। आत्माविषयक प्रकरण 18वां है जिसमें उनका

2. स चायमाजवंजवीभावः कदाचिद्धेतुप्रत्यय-सामग्रीमाश्रित्य अस्तीति प्रज्ञप्यते—ह्रस्व-दीर्घवत्, कदाचिदुत्पद्यत इति प्रज्ञप्यते, प्रदीप-प्रभावत्, बीजांकुरवत्। सर्वथा यद्ययं उपादाय प्रज्ञप्यते, यदि वा प्रतीत्य जायत इति व्यवस्थाप्यते, सर्वथास्य जन्ममरण प्रबन्धस्य, अप्रतीत्य वा अनुपादाय वा अप्रवृत्तिस्तन्निर्वाणमिति व्यवस्थाप्यते, न च अप्रवृत्तिमात्रं भावाभावो वेति परिकल्पितुं पार्यत इति। एवं न भावो नाभावो निर्वाणम्।

प्रतिपाद्य पांडेजी के अत्यन्त सम्यक् अनुवाद में निम्न प्रकार है :

"यदि आत्मा स्कन्धों से अभिन्न है तो वह उत्पत्ति-विनाशशील हो जायेगा। यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न है तो विज्ञान आदि स्कंध लक्षणों से रहित हो जाएंगे । अर्थात् स्कन्ध-भिन्न आत्मा में रूपण, अनुभव, निमित्तोद्ग्रहण, अभिसंस्करण तथा विषयप्रतिज्ञप्ति का अभाव होगा। आत्मा के अभाव में आत्मीय का अभाव अनिवार्य है। आत्मा और आत्मीय का उपशम होने पर योगी निर्मम और निरहंकार हो जायेगा। किन्तु इस निर्मम और निरहंकार पुरुष की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। जो उसे विद्यमान मानता है वह अविद्या में पड़ा है। अहं और मम के क्षीण होने पर पुनर्जन्म क्षीण हो जाता है। कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म और क्लेश विकल्प से उत्पन्न होते हैं, विकल्प प्रपंच से। समस्त प्रपंच शून्यता से निरुद्ध हो जाता है। तथागत ने कहीं आत्मा का उपदेश किया है, कहीं अनात्मा का, कहीं आत्मा और अनात्मा दोनों का प्रतिषेध किया है। यह उनका उपाय कौशल है। **चित्त-गोचर के निवृत्त होने पर समस्त अभिधेय भी निवृत्त हो जाता है।** अर्थात् परमार्थ अवाङ्मनसगोचर है। धर्मता निर्वाण के समान अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध है। बुद्ध का अनुशासन यह है कि **सब तथ्य है, सब अतथ्य है, तथ्य एवं अतथ्य दोनों है, तथा वस्तुतः न अतथ्य है, न तथ्य है।** तत्त्व का लक्षण यह है कि वह निरपेक्ष, शान्त, निष्प्रपंच, निर्विकल्प तथा नानात्व-रहित है। जो कुछ सापेक्ष है उसका अपना स्वभाव नहीं है, न उसका पर-भाव हो सकता है।"[3]

यहां रेखांकित वाक्यों में नागार्जुन ने दृष्टि, अथवा कहें सर्वदृष्टि-त्याग की ही बात की है जिसकी आवृत्ति ही हमें **मध्यमकशास्त्र** के 27वें और अंतिम प्रकरण में मिलती है जिस प्रकरण में कि आत्मा के अस्तित्व-निषेध के निषेध-विषयक उपर्युक्त कारिका है। इस प्रकरण की 13वीं और 14वीं कारिका में इस का स्पष्ट कथन है जो इस प्रकार है :

एवं दृष्टिरतीते वा नाभूमहमभूमहम्
उभयं नोभयं चेति नैषा समुपद्यते। 13.
अध्वन्यनागते किं नु भविष्यामीति दर्शनम्,
न भविष्यामि चेत्येतदतीतेनाध्वना समम्। 14.

इन पर टिप्पणी करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"नागार्जुन इस प्रकार अतीत और अनागत अध्व में दृष्टि-चतुष्टय :अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभयः का परिहार

3. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, उ. प्र., लखनऊ, 1963, पृ. 389, रेखांकन हमारे द्वारा।

करते हैं। अब यहां द्रष्टव्य है कि "अतीत में नहीं था" इस का वे क्यों निषेध करते हैं। इसका वे इसलिए निषेध करते हैं क्योंकि तब अहेतुक उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तब क्या हम यह विकल्प स्वीकार कर सकते हैं कि मैं सदैव था? यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि तब शाश्वतवाद को मानना पड़ता है और इससे प्रतीत्यसमुत्पाद का बाध होगा। एक-एक दृष्टि का पृथक्-पृथक् अभाव होने पर इन के समाहार के सत्य होने का प्रश्न ही कहां रहता है? उभय का अभाव होने पर उसके निषेध से अनुभयता भी कैसे हो सकती है?" इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि नागार्जुन द्वारा अनस्तित्व के निषेध का अर्थ अस्तित्व की स्वीकृति अथवा स्यादात्मक स्वीकृति नहीं है बल्कि केवल सब संभव विकल्पों की अस्वीकृति के अन्तर्गत इस विकल्प की भी अस्वीकृति है। इसी क्रम में पांडे जी के मत का भी उल्लेख किया जा सकता है जो श्चर्बात्स्की और प्रोफेसर मूर्ति के समान नागार्जुन को किसी चित्सत् का प्रतिपादक नहीं कहते हुए भी नितान्त निषेधवादी भी नहीं कहते। उनके अनुसार "मनस् (चित्) विषयिता और विषयता के किसी भी चिह्न से रहित है और व्यक्तियों, विषयियों और विषयों का सम्पूर्ण संसार पूर्णतः काल्पनिक है। मनस् तथा इसकी परिशुद्धता के स्वरूप का किसी भी प्रकार से निर्धारण दुस्साध्य है। इसे पूर्ण रिक्तता अथवा मात्र शून्यता से पृथक् करना कठिन है सिवाय यह कहने के कि यह मात्र नकारात्मकता नहीं है और कि यह अयथार्थ अथवा मिथ्या को प्रकट करने की संभावना से गर्भित है। किन्तु तब शून्यता भी शुद्ध नकारात्मकता नहीं है और यह सब वस्तुओं में व्याप्त मानी गई है—"शून्यता रूपं रूपं शून्यता।"[4] पांडेजी इसे आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यदि शून्यता अनस्तित्व नहीं है और जगद्व्यवहार के सत्य का निषेध नहीं करती, और यदि यह मात्र नकारात्मकता नहीं है, तो इसे शंकर के अद्वैत तत्त्व का नामांतर मात्र भी नहीं कहा जा सकता।"[5]

यहां प्रथम उद्धरण का आरंभिक वाक्य द्रष्टव्य है। इसमें शून्यवाद विज्ञान-वाद से अभिन्न हो गया है। किन्तु आगे पांडेजी शून्य को रिक्तता से समीकृत कर शून्यवाद के वास्तविक मन्तव्य के निकट आते हैं। किन्तु अनन्तर पुनः उसे इतना अधिक अन्तर्गर्भ बना देते हैं कि शंकर भी उसके सम्मुख निषेधवादी प्रतीत होने लगते हैं, क्योंकि यदि कल्पना-जगत् शून्य की अन्तःशक्ति से उद्भूत या प्रकट (मैनीफैस्ट) होता है तो शून्य वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन के शक्तिमय और प्रकाश-विमर्शात्मक शिव का ही नामान्तर हो जाता है। किन्तु नागार्जुन न केवल ऐसा कुछ कहते नहीं हैं बल्कि उनके प्रतिपादन से ऐसा कुछ बहुत क्षीण रूप से भी

4. 'बुद्धिस्ट फिलोसोफी', बुद्धिज़्म में संकलित, पृ. 34-35.
5. वही, पृ. 41.

ध्वनित तक भी नहीं होता है कि वे व्यवहार जगत् को किसी प्रकार की सृजनात्मक कल्पना से जनित मानते हैं, उनका 'कल्पना' शब्द का प्रयोग केवल जगत् के मिथ्यात्व का ही वाचक है।

उपर्युक्त तीन विद्वानों के अनुरूप ही ठाकुर जयदेव सिंह भी नागार्जुन और चंद्रकीर्ति के प्रतिपादनों पर अपनी दृष्टि का आरोप करते हैं। प्रोफेसर टी०-आर० वी० मूर्ति के समान ही वे नागार्जुन के चतुष्कोटि निषेधात्मक तर्क को कांट के "क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिकल रीज़न" के अनुरूप देखते हैं। संभवतः इससे बड़ा अतिचार दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि कांट संवेदमूलक बौद्धिक कोटियों को युक्त स्वीकार करते हुए बौद्धिक कोटियों के कल्पित विषयों को संवेदमूलक कोटियों के विषयों के अनुरूप वस्तुवाचक मानने को भ्रामक कहते हैं। नागार्जुन बौद्धिकता के इन दो स्तरों, या अन्य किसी भी प्रकार के स्तरों में कोई भेद करते दिखायी नहीं देते। इसके विपरीत जैसाकि हमने स्पष्टरूप से दिखाया है, वे केवल दो ही आयाम देखते हैं—व्यवहार और परमार्थ के, और ज्ञान, अनुभूति तथा कर्म के जितने भी आयाम हैं उन सभी को व्यवहार के अन्तर्गत संगृहीत कर परमार्थ को इस आयाम की शून्यता के बोध के रूप में एक दूसरा आयाम स्वीकार करते हैं। इस कारण नागार्जुन के परमार्थ को नाऊमेना, (पर-तत्त्व) नहीं कहा जा सकता।

यहां जयदेव सिंह जी से उदाहरण स्वरूप दो उद्धरण देना उपयुक्त होगा। वे मध्यमकशास्त्र की कारिका 22.12 को और उस पर चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा को दृष्टांत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "नागार्जुन इस कारिका में महात्मा बुद्ध द्वारा परिगणित चौदह अव्याकृतों का उल्लेख कर यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि तर्क-बुद्धि जब व्यवहार-जगत् को समझने के अपने उचित व्यापार को छोड़ कर पर-तत्त्वों के वर्जित क्षेत्र में भटक जाती है तब वह अनिवार्य रूप से अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय के ऐसे विग्रहों में फंस जाती है जिसका कोई समाधान संभव नहीं है।"[6] यह स्पष्टतः कांट के विचार का नागार्जुन पर आरोप है, और ऐसा सस्ता आरोप जैसा प्रोफेसर मूर्ति ने भी नहीं किया। प्रोफेसर मूर्ति ने वैसे तो नागार्जुन के चतुष्कोटि-व्यावर्तक तर्क को कांट के डायलेक्टिकल रीज़न से तुलनीय कहा है किन्तु उन्होंने इस प्रकार उनमें समानता नहीं दिखायी जिस प्रकार जयदेव सिंह जी ने दिखायी है। इसी प्रकार नागार्जुन द्वारा कारणता की परीक्षा : प्रत्यय-परीक्षाः के सम्बन्ध में ठाकुर साहिब कहते हैं—"नागार्जुन स्वतः उत्पाद, परतः उत्पाद, द्वाभ्याम् उत्पाद और अहेतुतः उत्पाद चारों की स्वरूपगत

6. श्चर्बात्स्कीकृत दि कंसेप्शन ऑफ बुद्धिस्टिक निर्वाण का 'विषय-प्रवेश', उपर्युक्त संस्करण, पृ. 16.

विसंगति दिखा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कारणता वस्तु-सत्ता के स्वभाव पर विकल्पमूलक अध्यारोप है (कॉज़लिटी इज़ ए मीअर थॉट-कंस्ट्रक्शन सुपर-इंपोज़्ड अपॉन दि ऑब्जेक्टिव ऑर्डर आफ अग्ज़िस्टेंस), कांट के शब्दों में कारणता केवल एक मानसिक विकल्प (केटेगरी आफ माइंड) है।"[7]

नागार्जुन का स्पष्टत: ऐसा मत नहीं है। नागार्जुन कारणता को प्रतीत्य-समुत्पाद के रूप में स्वीकार करते हैं, इतना ही नहीं, वे इसे व्यवहार-जगत् का पारमार्थिक स्वरूप कहते हैं, वे केवल कारणता की दूसरी व्याख्याओं की विसंगति दिखाते हैं। अवश्य वे इसे अनिरोधमनुत्पादम्······के रूप में अनिर्वचनीय भी कहते हैं किन्तु न तो यह कारणता का व्यवहार या परमार्थ में निषेध है और न इसमें स्वत:, परत: उत्पाद आदि की अंतर्गत विसंगति का मूल कांट के समान अनुभवातिक्रामी बुद्धि की आत्मविमर्श की असामर्थ्य में देखने का प्रतिपादन है। नागार्जुन तो वास्तव में इस अतिक्रामी तर्क का उपयोग अनुभवकोटियों के क्षेत्र में ही करते हैं और इस उपयोग के द्वारा इन अनुभवकोटियों की अंतर्गत विसंगति दिखाते हैं, जैसा कि पीछे यथाप्रसंग हम देख आये हैं। यह सही है कि इधर-उधर कहीं कोई ऐसी कारिकाएं भी मिल जाती हैं जिनमें वे प्रपंचातीत तत्त्व का प्रति-पादन करते भी दिखायी देते हैं, इस प्रसंग में निम्न कारिका विशेष रूप से द्रष्टव्य है :

अपरप्रत्ययं, शान्तं, प्रपंचैरप्रपंचितम्
निर्विकल्पं, अनानार्थं, एतत तत्त्वस्य लक्षणम्।[8]

किन्तु हमारे विचार में ऐसी दो-एक कारिकाओं को केवल आलंकारिक रूप में ही लेना उपयुक्त होगा, अभिधार्थक रूप में लेना उपयुक्त नहीं होगा।

इन लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के विपरीत एक दूसरे प्रतिष्ठित विद्वान डॉ० हर्षनारायण ने हमारे मत के अनुरूप मत प्रतिपादित किया है। उनके एक लेख का उल्लेख हम पीछे कर आए हैं, यहां हम उनके एक दूसरे लेख से एक उद्धरण देना चाहते हैं जो हमारे प्रस्तुत प्रतिपाद्य के लिए विशेष प्रासंगिक है। अपने इस लेख-"दि नेचर ऑफ माध्यमिक थॉट" में वे कहते हैं—"माध्यमिक सम्प्रदाय मिथ्यात्व-वादी और निस्स्वभाववादी (इल्यूयनिस्ट एंड निहिलिस्ट) है। किन्तु माध्यमिक सम्प्रदाय ऐसा केवल दार्शनिक रूप से ही है। यह वास्तव में प्रज्ञापारमिता के आधार पर धर्म, दर्शन और गुह्य ज्ञान (मिस्टिसिज़्म-ग्नोसिस) के तीन स्तरों की स्थापना करता है······नागार्जुन द्वारा **अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता** के आरंभ

7. वही, पृ. 20
8. म. शा. 18.9.

में 21 श्लोकों में दी गई "प्रज्ञापारमिता-स्तुति" इस बात का एक ज्वलंत उदाहरण है······, (माध्यमिक) धार्मिक के रूप में भाववादी और वस्तुवादी (पॉज़िटिविस्ट्स एंड रीयलिस्ट्स) हैं, दार्शनिक के रूप में निषेधवादी-निस्स्वभाव-वादी हैं, किन्तु रहस्यवादी के रूप में वे क्या हैं, यह ईश्वर ही जाने।"[9] वे आगे कहते हैं-—"प्रज्ञापारमिता के स्तर पर माध्यमिक दर्शन सब दृष्टियों के, शून्यता-दृष्टि के सहित, निरास अथवा प्रहाण की ओर अग्रसर होता है। माध्यमिक··· पहले यह दिखाता है कि सब अपनी उत्पत्ति और अस्तित्व में आगन्तुक और अन्या-पेक्षी है और परिणामतः स्वभाव-रहित, सत्त्व-रहित है। इसका अर्थ होता है रीता व्यवहार-जगत्, असत्ता और अभाव। परिणामतः इस प्रहत सत्ता का स्थान असत्ता लेने को अग्रसर होती है, किन्तु तब वह इस पर भी प्रहार करता है जिसके निष्कर्षस्वरूप पूर्ण निषेधवाद प्रतिफलित होता है।"[10] इस प्रकार माध्यमिक शून्यता के सम्बन्ध में डा० हर्षनारायण का मत हमारे मत के अनुरूप है।

किन्तु यहां हमने डा० हर्षनारायण के लेख का उल्लेख जिस मंतव्य से किया है वह है नागार्जुन की धार्मिकता की उनके दार्शनिक सिद्धान्त से प्रकट असंगति। यहां हमारे लिए विचारणीय है कि क्या इनमें किसी गहरे स्तर पर संगति संभव है? वास्तव में अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में बहुत सी विसंगतियां रहती हैं और इसमें दार्शनिक भी कोई अपवाद नहीं हैं। किन्तु कुछ स्थितियों में संगति प्रकट असंगतियों का सन्निवेश करके ही प्रतिष्ठित होती है, जैसे **रामचरित मानस** के सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान ईश्वरतत्त्व का राम के रूप में विरह में रुदन आदि व्यवहार है। कुछ प्रसंगों में हम विसंगति जानते हुए भी उसे अस्तित्व के अवर स्तर पर अनुमति देते हैं, जैसे सब घटनाओं में ईश्वर का कर्त्तृत्व स्वीकार करने वाला व्यक्ति भी अपने पुत्र की मृत्यु पर स्वेच्छा से रो सकता है। नागार्जुन द्वारा प्रज्ञापारमिता की स्तुति इस कोटि में भी रखी जा सकती है: वे शून्यता को ही प्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिता को शून्यता मानते हुए भी प्रज्ञापारमिता नामाभिधेय पदार्थ का आक्षेप कर अपने को उसके प्रति गद्‌गद् अनुभव करने की अनुमति दे सकते हैं। किन्तु यहां हम यह मानकर कि नागार्जुन के लिए धर्म और दर्शन का यह असामंजस्य केवल प्रकट ही है, वास्तविक नहीं, उनकी धार्मिकता को उनके शून्यवाद की संगति में समझने का प्रयत्न करेंगे। संभवतः नागार्जुन के इन दो पक्षों में सामंजस्य इस आधार पर ही हो सकता है कि उनके परमार्थ को शान्त कहने का अर्थ यह लिया जाए कि जबकि प्रपंच, हमारे अपने अस्तित्व के

9. माध्यमिक डायलैक्टिक एंड फिलोसोफी ऑफ नागार्जुन, संपादक थुपतन छोगडुप, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1985, पृ. 231-320.

10. वही, पृ. 234

सहित, सब प्रकार से और सब प्रसंगों में आत्मबाधित है, इस प्रपंच का निरसन :प्रपंचातिक्रमण: साध्य है। वास्तव में यही बहुत बड़ा रहस्य है कि जो अपने स्वरूप में ही आत्मबाधित है वह तब भी कैसे है ? यह अपने आप में एक दुहरी असंभव स्थिति हो जाती है। किन्तु इसकी आत्मबाधितता और तब भी विद्यमानता ठोसतम तथ्य है। वास्तव में यदि इसकी विद्यमानता हो ही नहीं तो आत्मबाधितता के होने का भी प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। किन्तु इसके आत्मबाधित होने से इसे सत् नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह हो कर भी असत् है, यह असत् विद्यमानता है, भूत के भय के समान : इस बात की उपेक्षा करते हुए कि भय भ्रांतिमूलक होने पर भी सत् होता है। इस आत्मबाधित स्थिति का निरास साध्य है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इस सिद्धि का फल क्या होगा ? इसमें अन्वेष्य क्या है ? नागार्जुन का उत्तर हो सकता है कि "मिथ्यात्व का निरास ही क्या कम मूल्यवान है ? फिर, इसके फल की बात, अतिक्रमण से उत्तर स्थिति के स्वरूप की बात, हम जोकि अपने स्वरूप में ही उसी प्रकार प्रपंचात्मक और आत्मबाधित हैं जिस प्रकार कुछ भी अन्य है, सोच ही कैसे सकते हैं ? इसे ही हम दृष्टियों का अभाव कहते हैं, यही परम साध्य है। किन्तु यह नितान्त दुस्साध्य भी है, उसी प्रकार जिस प्रकार किसी अगायक के लिए युक्त स्वरों की लय पर कंठ को समायोजित करना दुस्साध्य होता है। दृष्टियों का निरास, दृष्टि के मोह का परित्याग, जिसमें अपने स्वरूप की जिज्ञासा का मोह भी सम्मिलित है, अपने अस्तित्व में सिद्ध करने में, इस प्रपंचात्मक आत्मास्तित्व का उससे तादात्म्य साधने में, धर्म-भाव बहुत सहायक हो सकता है।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि रीता ठोस के समान क्यों और कैसे भासता है ? प्रपंच वास्तविक क्यों और कैसे प्रकट होता है ? जब तक कुछ ठोस और वास्तविक नहीं हो तब तक यह कैसे संभव है ? नागार्जुन द्वारा इन प्रश्नों का उत्तर हो सकता है कि "ये सब प्रश्न भी प्रपंचात्मक ही हैं : वही प्रयोजन, उपाय, विधि और तर्क आदि और तब प्रयोजक, उपादाता, विधायक और प्रमाता आदि, जिनकी अयुक्तता हम देख ही चुके हैं। यदि आप कहें कि युक्तता युक्ति की पूर्वापेक्षी है और युक्ति युक्त-अयुक्त की, तो यह आपत्ति हमारे पर नहीं हो सकती क्योंकि हम इन अपेक्षाओं को भी निराकरणीय ही मानते हैं।"

यह सही है कि हमने नागार्जुन की युक्तियों को सदोष पाया है और युक्त्यतिक्रमण के प्रयत्न को असाध्य, किन्तु नागार्जुन इसके उत्तर में कह सकते हैं कि "यदि हम यह मान भी लें कि हमारी युक्तियों में वे सब दोष हैं जो आपने बताये हैं और युक्त्यतिक्रमण का प्रयत्न असाध्य और अनेष्य है, तो भी इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि इससे हमारे प्रयत्न की निराधारता सिद्ध नहीं होती। हमारा मन्तव्य यह है कि जगत् की सब वस्तुएं और जगत्, स्वयं हमारा

और हमारी युक्तियों का समावेश करते हुए, आगन्तुक और प्रतिष्ठा-रहित है। क्या आप यह दिखा सकते हैं कि ये ऐसी नहीं हैं ? आप कहना चाहते हैं कि इनकी आगन्तुकता किसी अनिवार्यता, किसी स्वभाव की संकेतक है, किन्तु हमारी इस पर आपत्ति है कि यह आप किस आधार पर कहते हैं ? इसके लिए कोई आधार नहीं दिया जा सकता सिवाय उसी सापेक्षात्मक तर्क के जो अपनी निस्स्वभावता के लिए स्वयं प्रमाण है। तब जो और जितना आपके सामने स्पष्ट है उतने ही को स्वीकार कर, उसी के सम्मुख नतमस्तक हो, आत्मसमर्पण कर, आप क्यों सन्तुष्ट नहीं रहते ? यहां डा० हर्षनारायण का एक आक्षेप उल्लेखनीय है। वे कहते हैं : "शून्यवाद की सब निरपेक्षतावादी-पूर्णतावादी (एब्सोल्यूटिस्टिक) व्याख्याएं इस मान्यता पर आधारित हैं कि माध्यमिक रूपकों में बात करता है, किन्तु यदि वस्तु ही इस प्रकार रूपकात्मक हो जाय तब कैसे काम चलेगा ?"[11] इस पर नागार्जुन का उत्तर हो सकता है कि "नहीं, रूपक भी नहीं, हमारे मन्तव्य की अभिव्यक्ति की उचित माध्यम उलटबांसियां ही हो सकती हैं। 'निरपेक्षतावाद' आदि शब्द अभिधा या रूपक किसी भी विधि से हमारे अभिप्राय को व्यक्त नहीं कर सकते, ये केवल सब संभव विकल्पों के निषेध द्वारा ही उसका अनुमान दे सकते हैं। किन्तु हमारा यह निषेध औपनिषद् नेति-नेति के प्रकार का भी नहीं है, क्योंकि हमें निषेध द्वारा किसी अनिषेध्य की ओर संकेत करना अभिप्रेत नहीं है। वास्तव में अतिक्रामी वस्तुएं ऐहिक वस्तुओं की अनुकृतिमात्र हैं और इस प्रकार दुहरी काल्पनिक हैं। उनमें अनुरक्ति उससे भी अधिक भयानक है जितनी ऐहिक वस्तुओं में अनुरक्ति भयावह है। हमें जो बात निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह कि ज्ञेय विषयमात्र आगन्तुक और निस्स्वभाव है और उतना ही निस्स्वभाव और निष्फल प्रमाण-प्रमेय व्यवहार है। इसलिए जो असत् है उसमें अनुरक्ति कैसी ? इसलिए हमारे लिए यह विरक्ति ही साध्य है। यह सिद्ध हो जाने पर सत्य स्वयं ही सिद्ध होगा, किन्तु उसके लिए कोई अनुरक्ति संभव नहीं है क्योंकि वह अनुरक्ति का विषय ही नहीं हो सकता। आत्मा की खोज अहंकार की ही खोज का एक छद्म रूप है क्योंकि 'अतिक्रामी' आदि शब्द लगा देने से आत्मा की अहंकारात्मकता पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। यही बात ब्रह्म आदि के सम्बन्ध में भी सही है।

"इसका अर्थ यह नहीं है कि हम परमार्थ को व्यवहार के रीतेपन से अभिन्न मानते हैं। हमारा कहना केवल यह है कि हम केवल ज्ञेय और ज्ञान की आत्मबाधितता को और इस प्रकार व्यवहार-जगत् के रीतेपन को ही जान सकते हैं। यह स्वयं विचार के ही स्वभाव में है कि वह अपने विषय के साथ अपनी

11. वही, पृ. 246

निस्स्वभावता को भी उद्घाटित कर सकता है। इसलिए हम जैसे ही व्यवहार के आगे परमार्थ को जानने का प्रयत्न करते हैं वह व्यवहार में ही रूपान्तरित हो जाता है। परमार्थ को उसके स्वरूप में पाने का हमारा प्रयत्न वैसा ही है जैसा किसी का दौड़कर अपनी देह की सीमा से बाहर निकलने का प्रयत्न हो सकता है। इस प्रयत्न को सार्थक रूप से साधने वाले को तो पहले अपने देह का ही परित्याग करना होगा।''

कुछ इस प्रकार का उत्तर है जो दार्शनिक नागार्जुन अपनी धार्मिकता के लिए दे सकते हैं। किन्तु यह उत्तर कहां तक समीचीन है : यह एक दूसरी बात है। किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह धार्मिकता शून्यवाद को एक आध्यात्मिक आयाम दे देती है और इससे यह एक निरर्थकता-बोध और अनास्था में पर्यवसित नहीं होकर अपने आप में आश्रय हो जाती है। यहाँ कवि अज्ञेय की एक कवित का उद्धरण समीचीन होगा :

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को बरजता हूं
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूं।

4

प्रपंच, प्रपंचाभाव और प्रपंचातीत

पिछले अध्याय में हमने देखा कि किस प्रकार कुछ बहुत प्रतिष्ठित बौद्ध-विद्याविद् नागार्जुन की 'शून्यता' को 'असत्त्व' का पर्यायवाची नहीं मानते। उनका प्रस्ताव है कि 'शून्यता' का अर्थ केवल प्रपंच के पक्ष में ही असत्त्व: रिक्तता: लेना चाहिए, जगदोत्तर तत्त्व के पक्ष में यह अर्थ नहीं लेकर 'अनिर्धार्यता', 'अवाच्यता' ही अर्थ लेना चाहिए। यद्यपि यह समझना कठिन है कि क्यों जिन निर्धारणों के कारण प्रपंच को शून्य कहा गया है उन्हीं निर्धारणों से अतीत तत्त्व को भी इसलिए शून्य कहा जाय क्योंकि वह इन निर्धारणों का विषय नहीं हो सकता। किन्तु मान लें कि नागार्जुन 'शून्य' शब्द का इन दो विरोधी अर्थों में ही प्रयोग करते हैं, तो भी क्या यह कहने के लिए कोई औचित्य है कि वे चतुष्कोटि-निषेधक तर्क का प्रयोग कांट के अनुरूप अनुभव-वियुक्त तर्क की अप्रतिष्ठता दिखाने के लिए करते हैं, जैसाकि प्रोफेसर टी० आर० वी० मूर्ति और ठाकुर जयदेव सिंह ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है? हमारे विचार में यह सर्वथा अयुक्त है जैसाकि हमारी मध्यमक-शास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी की परीक्षा से स्पष्ट है। जैसाकि हमने देखा है नागार्जुन ने अपने अधिकांश विश्लेषणों में अनुभव-मूलक विषयों को अनुभव-वियुक्त अवधारणाओं में उद्गृहीत कर उन विषयों की आत्मविसंगति दिखायी है और इस विसंगति को उनकी शून्यता कहा है। उदाहरणत: वस्तुओं की उत्पत्ति और नाश का, गति और स्थिति का, अग्नि और इन्धन का, कर्मों और संस्कारों का निषेध इसी अनुभव-वियुक्त विश्लेषण के आधार पर किया गया है। यहां कहा जा सकता है कि यह अनुभव अपने मूल में ही प्रपंचात्मक है और परिणामत: निषेध्य है। किन्तु यह दिखाने की आवश्यकता है कि ऐसी बात है, क्योंकि दिङ्नाग का निर्विकल्पकता का सिद्धान्त और धर्मकीर्ति का अपोह का सिद्धान्त दोनों इन्द्रियानुभव को अवाग्विषय ही स्वीकार करते हैं, और नागार्जुन ने यह कहीं नहीं दिखाया है कि यह अनुभव वाग्विषय हो सकता है। दूसरे, यदि तद्विषयक वाग्व्यवहार को उस अनुभव का वाग्विषयत्व मान भी लें तो भी वह इससे उत्तरवर्ती तर्क द्वारा परीक्ष्य और अपने भाव में निषेध्य हो सकता है यह स्वीकार्य नहीं जान पड़ता। यहां वास्तव में कांट का प्रतिपादन बहुत सहायक हो सकता है जिसने अतिक्रामी तर्क की उसके आनुभविक प्रयोग में भ्रामकता दिखायी

है। वास्तव में नागार्जुन ने जो किया है वह यह कि उसने अनुभव-विषयक-वाग्व्यवहार को ही अनुभव-निरपेक्षता देकर उसके द्वारा अनुभव को अप्रतिष्ठित दिखाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः "राम जाता है" वाक्य लें। इसमें उद्देश्य और विधेय दोनों अनुभव-विषयक पद हैं और इनके बीच सम्बन्ध भी। यहां नागार्जुन प्रश्न करते हैं कि "कर्त्ता और क्रिया भिन्न हैं या अभिन्न ?" और इसका उत्तर देते हैं कि "ये दोनों पक्ष इसलिए ठीक नहीं हैं क्योंकि यदि गन्ता से गमन-क्रिया अभिन्न मानें तो कर्त्ता और क्रिया का एकत्व मानना होगा, किन्तु कर्त्ता-क्रिया का भेदेन अभिधान भी संभव नहीं है।" यहां अनुभवविषयक अध्यवसाय को व्याकरणविषयक अध्यवसाय में रूपान्तरित कर उसकी कोटियों को वस्तुविषयक कोटियों के रूप में लेते हुए आनुभविक सम्बन्धों का निर्धारण किया गया है। तब इससे जो भाव और अभाव आदि के चार विकल्प बनते हैं उन्हें उन्होंने कांट के अनुरूप तर्क के अनुभवोत्तर प्रयोग के अनुपयुक्त परिणामों के रूप में नहीं देखकर अनुभव विषय में ही स्वगत दोष के रूप में देखा है। ऐसी अवस्था में नागार्जुन के तर्क की कांट के द्वन्द्वात्मक तर्क से तुलना करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि नागार्जुन विकल्प को प्रपंच का कारण और इस प्रकार असदात्मक मानते हैं, किन्तु इसमें अनुभव और विकल्प, तथा अनुभवमूलक विकल्प और तद्वियुक्त विकल्प के भेद का ध्यान नहीं रखा गया है। ऐसा नहीं है कि यह ध्यान रखना आवश्यक है और इस प्रकार कांट की ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करना आवश्यक है। फ़िख़्ते और हेगल ने ही वह नहीं किया है। किन्तु नागार्जुन के चतुष्कोटिक विश्लेषण में इस भेद का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा आपके चतुष्कोटि या उभयकोटि-निषेध का कोई आधार नहीं रहता। उदाहरणतः शंकर द्वारा जगत् को प्रतिभास या अध्यास के रूप में देखने पर यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि उन्होंने कांट की इस शिक्षा का ध्यान नहीं रखा, क्योंकि उन्होंने रज्जु-सर्प-भ्रम के प्रसंग में रज्जु को सर्प के समान ही भ्रांति के रूप में नहीं देखा, जोकि नागार्जुन ने देखा है। हमारी इस आपत्ति का औचित्य नागार्जुन के आत्मा के अस्तित्व पर विचार के प्रसंग में और भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। शंकर आत्मा का अस्तित्व आत्म-प्रत्यय के आधार पर अथवा अस्मिता की अप्रत्याख्येयता के आधार पर सिद्ध करते हैं, किन्तु नागार्जुन आत्मा का निषेध करते हैं और उसका आधार उपर्युक्त प्रकार से चतुष्कोटि-रचना को बनाते हैं। वे प्रश्न करते हैं "आत्मा स्कन्धों से भिन्न है या अभिन्न ?" और तब उत्तर देते हैं कि "यदि स्कन्ध ही आत्मा हैं तो उनका उदय-व्यय, उत्पाद-विनाश मानना होगा और अनेकता माननी होगी, यदि वह स्कन्ध-व्यतिरिक्त है तो उसका लक्षण स्कन्ध नहीं होगा।" (आत्मपरीक्षा प्रकरण) यहां आत्मा को स्कन्ध मानने या नहीं मानने में निहित आपादन बताये गए हैं और दोनों आपादनों को अस्वीकार्य

माना गया है। किन्तु इन दोनों में से किसी भी विकल्प के आपादन स्वीकार करने में क्या कठिनाई है, विशेषतः दूसरे विकल्प के? दूसरे, यदि कोई आपत्ति करे कि आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रश्न की रचना ही अयुक्त है क्योंकि इसका विपरीत प्रश्न भी इसी प्रकार बनाया जा सकता है—स्कन्ध आत्मरूप हैं या अनात्मरूप? और यह नहीं कहा जा सकता कि यह दूसरा प्रश्न पहले से अधिक या कम अयुक्त है, अथवा पहला अयुक्त है और दूसरा अयुक्त। क्योंकि आख़िर इन प्रश्नों की युक्तता और अयुक्तता के बीच निर्णय का क्या आधार होगा? इन प्रश्नों के बीच निर्णय की असम्भवता इससे और स्पष्ट हो जाती है कि उनके अनुसार स्कन्धों का अस्तित्व भी इसी प्रकार असिद्ध है। (द्रष्टव्य प्रकरण 4, स्कंध-परीक्षा) अब आत्मा स्कन्धरूप है या अस्कन्धरूप, इस प्रश्न के उत्तर के लिए स्कन्धों का अस्तित्व पूर्वस्वीकृत होना आवश्यक है, जैसाकि कांट में है, वह अस्तित्व अस्वीकृत होने पर यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, और यदि वह आकारतः उठना ही हो तो इसका विपरीत प्रश्न भी उसी प्रकार किया जा सकता है।

'प्रपंच' का अर्थ ऐसी अतिक्रामी वाग्रचना या विकल्परचना है जिसे साधारणतः हम वस्तुमात्र के रूप में ग्रहण करते हैं और 'जगत्' या 'संसार' कहते हैं किंतु जो वस्तुतः सत् नहीं है। सत् निष्प्रपंच है, अर्थात् उसमें विकल्पजन्य भेद, वाग्रचित विषयों और उनके सम्बन्धों का जटिल ताना-बाना नहीं है, वह अद्वय, एकरस और सरल है। इसे तत्त्व या तथता भी कहा गया है, जिसका अर्थ अखंड, विषयिता से अप्रभावित वस्तुता है। प्रपंच नितान्त विषयिता है। यों प्रायः सभी विषयिताएं विषयरूपेण ही गृहीत होती हैं किंतु कुछ विषयिताएं वैयक्तिक और तात्कालिक होती हैं और कुछ व्यक्त्यतिक्रामी और कालातीत होती हैं। इन दूसरे प्रकार की विषयिताओं को बौद्ध अनादि वासनाएं कहते हैं। वास्तव में इस विचार के अनुसार व्यक्तिरूपेण स्वयं हमारा अस्तित्व भी विषयिता में ही प्रतिष्ठित होता है, जिस विषयिता को अहंकार की संज्ञा दी गई है। यह विषयिता अतिक्रामी है। जगत् या प्रपंच का मूल इस विषयिता को ही कहा गया है। इस प्रकार 'आत्मज्ञान' भी वास्तव में अस्मिता या अस्मितामूलक अर्थों का ज्ञान नहीं होकर इनका अतिक्रमण करना है। विषयिता का यह अतिक्रामी अर्थ लेने पर वाक् के लिए अतीत निर्विकल्पक संवेद भी इस विषयिता के अन्तर्गत ही आ जाते हैं, यद्यपि कुछ दार्शनिक, उदाहरणतः दिङ्नाग और कांट, इस विषयिता को वस्तु-सम्बद्ध मानते हैं। इस प्रकार हम और जगत्, अथवा कहें जगत्, जो व्यक्ति और जाति-रूप में हमें भी सम्मिलित करता है, वस्तु से पृथक् अथवा वस्तु पर अध्यस्त विषयिता है, जिससे मुक्त होकर ही वस्तु-स्वरूप की सिद्धि संभव है। यहां प्रश्न हो सकता है कि इस वास्तविकता को, जिसमें हमारे भौतिक, भाव-

नात्मक और बौद्धिक सम्पूर्ण अस्तित्व का ही निषेध हो, जिसमें हमारी अस्मिता का ही विसर्जन पूर्वापेक्षित हो, पा कर हम क्या करेंगे ? इसे संक्लेश, दुःख क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर होगा कि अवस्तु में वस्तुभाव असत्य है, मिथ्यात्व है, इसी कारण यह दुःख है। अथवा कहें दुःख का यहां यही अर्थ है। असत्य से मुक्ति यह तो परम मूल्य रहेगा ही।

किंतु इस तत्त्व का क्या स्वरूप है ? इसके सम्बन्ध में वेदान्त-दृष्टि है कि यह चिदानन्दात्मक है। किंतु इस उत्तर पर, और वास्तव में इस प्रश्न पर ही, आपत्ति हो सकती है कि हम, जो अपने अस्तित्व में ही आमूलाग्र असत् अथवा उपाधिभूत हैं, वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार या कल्पना कर ही कैसे सकते हैं ? क्या यह अपनी छाया को कूदकर लांघने के प्रयत्न जैसी बात नहीं है ? महात्मा बुद्ध द्वारा कुछ प्रश्नों को अप्रष्टव्य और कुछ तत्त्वों को अव्याकृत कहने का यही अर्थ है। कहा जा सकता है कि नागार्जुन यहां एक कदम और आगे जाते हैं और कहते हैं कि विषयिता विसर्जनीय है और विषयता विषयिता से अधिक कुछ नहीं है। उदाहरणतः आत्मा का अस्तित्व है या नहीं, निर्वाणोपरान्त बुद्ध रहते हैं या नहीं, इन प्रश्नों को बुद्ध अव्याकृत कहते हैं किंतु नागार्जुन इन्हें अव्याकृत नहीं कहते, वे इनको व्याकृत कर समान रूप से रिक्त, अवास्तविक, निस्स्वभाव और अतत्त्व कहते हैं। इस प्रकार वे बुद्ध से आगे नहीं जाकर उनसे भिन्न मार्ग का अवलंबन करते हैं।

अब यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या शून्यवाद एक तर्कतः संभव सिद्धांत है ? वास्तव में पिछले अध्याय में चर्चित विद्वानों ने जो नागार्जुन के 'शून्य' पद का अर्थ निरपेक्ष परतत्त्व किया है वह इसी कारण कि वे नितान्त शून्यवाद, अथवा कहें रिक्ततावाद-असद्वाद को तर्कतः संभव, अथवा कहें अवधार्य, नहीं पाते। पीछे 'प्राक्कथन' में उद्धृत शंकराचार्य की शून्यवाद की आलोचना भी यही है कि प्रपंच किसी निष्प्रपंच तत्त्व के आधार पर ही प्रपंचित हो सकता है, मिथ्यात्व सत्य के बिना मिथ्या नहीं हो सकता। यदि विचार अपने विषय को और अपने को भी निस्स्वभाव पाता है तो वह स्वभाव के आधार पर ही वैसा कर सकता है। निश्चय ही यहां नागार्जुन की युक्ति अकाट्य है कि "यह स्थिति तो विचार की सीमा ही प्रकट करती है कि वह किसी स्थिति को उसके निषेध के बिना नहीं देख सकता।" किंतु विचार अपनी इस सीमा को भी देख सकता है जो उसके आत्मविचार में अपने को उद्घाटित करती है। किंतु आत्मस्वरूप-प्रकाशन में समर्थ यह विचार भी अपने विषय और अपने निर्धार्य रूप की कोटि में ही आता है, यह कहना सही नहीं है, क्योंकि 'भाव और अभाव स्वरूपतः सापेक्ष हैं' यह निर्धारण स्वयं भी निर्धारित है, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है। **विग्रहव्यावर्तनी** में नागार्जुन द्वारा शून्यताप्रतिपादक युक्ति की शून्यता की स्वीकृति का औचित्य इसके अनुसार समझा

जा सकता है। यदि इस प्रत्यङ्मुखता को अनिर्धार्यता नहीं मानकर अनवस्था-दोष कहा जाय, जैसाकि नागार्जुन[1] और बहुत से दार्शनिक कहते हैं, तो फिर निर्धारण की निर्धारणात्मकता का, और उससे अधिक शून्यता का, उसके किसी भी अर्थ में, बोध ही संभव नहीं हो सकेगा, क्योंकि किसी भी निर्धारण का बोध अनिर्धार्य में पर्यवसित हुए बिना निर्धारणों के अनन्त क्रम को ही उत्पन्न करता है। वास्तव में शून्यता को अन्य दृष्टियों में एक दृष्टि नहीं मानने का नागार्जुन का अनुरोध प्रत्यङ्मुखविचारगम्य इस अनिर्धार्यता की ही स्वीकृति है। अनिर्धार्य निर्धारणों के साथ सन्तत नहीं होता क्योंकि यह निर्धारणों के निषेध से नहीं बल्कि निर्धारणों के अतिक्रमण से प्रकाशित होता है।[2] इसलिए यह निर्धारणों का सापेक्ष नहीं होता। किंतु जैसाकि स्पष्ट है, यह अनिर्धार्य आत्मप्रत्यङ्मुख विचार या चित् ही है जिसे न तो निर्धार्यों की शून्यता के रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है और न ही जिसे स्वयं शून्य कहा जा सकता है, इस अर्थ में भी नहीं कि विचार उसके निर्धारण में असमर्थ है, क्योंकि अनिर्धार्य स्वयं निर्धारणात्मक विचार का ही आत्मसाक्षात्कार है।

अब निर्धारण अनिर्धार्य की ही पराङ्मुखता, अथवा कहें निर्धारणोन्मुखता होने से निर्धारण इस अनिर्धार्यता के तत्त्व से रहित नहीं होते, ये अनिर्धार्य में सन्निहित होते हैं। वास्तव में नागार्जुन का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत स्वयं इस तथ्य की स्वीकृति है: यदि प्रत्येक वस्तु अथवा घटना अन्य-सापेक्ष है तो इसका अर्थ है कि वह अपने आविर्भाव के साथ अनिर्धार्य का निर्धारण करती है, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार वस्तु एक-साथ ही अपने को और इतर को निर्धारित करती है (यद्यपि नागार्जुन यह कहते प्रतीत होते हैं कि वस्तु स्वयं में कुछ हुए बिना इतर से निर्धारित होती है।) किंतु यदि ये दोनों इतरेतर रूप में नहीं देखे जाकर एकात्मक ही देखे जाते हैं तो ये अनिर्धार्य हो जाते हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद यही है: घट और अघट को इतरेतर रूप में नहीं देखकर एक-रूप में ही देखना; और इस प्रकार यह निर्धारणों की अनिर्धार्यता का दर्शन हो जाता है। किंतु इससे निर्धारणों की निस्स्वभावता प्रकट नहीं होती, अनिर्धार्य की निस्स्वभावता का तो फिर प्रश्न ही कहां उत्पन्न होता है, क्योंकि निर्धारित केवल आकारतः ही इतरापेक्षी होता है, वस्तुतः नहीं। उदाहरणतः 'ह्रस्व-दीर्घ,' 'ऊपर-नीचे' आदि जितने सहज रूप में इतरेतरता में अपचित प्रतीत होते हैं उतने ही 'रक्त' और 'पीत', 'घट' और 'पट', तथा 'प्रेम' और 'द्वेष' इतरेतरता में अनपचेय प्रतीत होते हैं। अवश्य 'रक्त' संज्ञा 'अरक्त' से निर्धारित हुए बिना अर्थवान् नहीं हो सकती, किंतु रक्त वर्ण यदि नील, पीत आदि (अरक्त वर्ण) से अस्तित्वतः

1. पीछे "प्रत्यय परीक्षा" प्रकरण द्रष्टव्य।
2. द्रष्टव्य हमारी पुस्तक सत्ताविषयक अन्वीक्षा, अ. 1 तथा 10

सापेक्ष भी देखा जाय तो भी वह इतरतरता में अपचेय नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि प्रेम और द्वष में अस्तित्वतः भी इतरेतरता हो तो भी ये दो भाव इतरेतर में अपचेय नहीं हो सकते, केवल इनकी इतरेतरता का लय इनके अस्तित्व को अविशिष्ट कर सकता है।

यहां इस अस्तित्व के प्रश्न पर थोड़ा और गहराई से विचार करना उपयुक्त होगा। प्रेम और द्वेष विशिष्ट चैत्त अवस्थाएं हैं और रक्त तथा पीत विशिष्ट रूप (वर्ण)। ऐसा समझा जाता है कि द्वेष से व्यावृत्त हुए बिना प्रेम और अरक्त से व्यावृत्त हुए बिना रक्त तद्रूप में अवगम्य नहीं हो सकते, दूसरे शब्दों में इनका कोई निरपेक्ष स्वरूप नहीं हो सकता है। किंतु यह अयुक्त है, क्योंकि यह व्यावृत्ति शब्दमूलक तो है किंतु चैत्त या संवेदमूलक या रूपात्मक नहीं। प्रेम-वृत्ति या रक्त वर्ण क्रमशः द्वेष और अरक्त वर्ण से व्यावृत्त होकर गृहीत नहीं होते, यद्यपि यह सही है कि ये चित् के अहंकारोपहित हुए बिना और इस प्रकार भावक और दर्शक के अपने अस्तित्व में व्यावृत्त हुए बिना आविर्भूत नहीं हो सकते। उदाहरणतः किरणों को सब वैकल्पिक किरण-दैर्घ्यों में देख सकने वाली चक्षु कोई वर्ण नहीं देख सकती, न अभिन्न राग-द्वेष का अनुभोक्ता इनसे अतटस्थ रह सकता है। किंतु यह पूर्णतः संभव है कि केवल एक ही वर्ण और द्वेष-रहित प्रेम का ही अस्तित्व हो। तब 'रक्त' और 'प्रेम' ये संज्ञाएं होंगी या नहीं यह एक पृथक् प्रश्न है। इसलिए इन्हें अस्तित्वतः परस्पर सापेक्ष नहीं कहा जा सकता और परिणामतः 'इतर' के लय में 'स्व' के लय को अन्तर्निहित नहीं कहा जा सकता। किंतु विचार-विषयभूत रक्त और प्रेम क्रमशः अरक्त और द्वष से अनिवार्यतः व्यावृत्त होते हैं और इस प्रकार अन्य-सापेक्ष होते हैं। किंतु यह द्रष्टव्य है कि विचार जहां विकल्पात्मक है वहां सामान्यात्मक भी है। विचारगत घट-व्यष्टि अन्य घट-व्यष्टि से व्यावृत्त भी है और घटत्व में उससे अभिन्न भी। अब यह सामान्योन्मुख उत्क्रमण वस्तुमात्र को सर्वग्राही अनन्यत्व में आत्मसात् अथवा कहें तदात्म कर देता है। इस प्रकार प्रतीत्यात्मक सापेक्षता वस्तु की निस्स्वभावता नहीं उसकी ब्रह्म-स्वभावता की द्योतक होती है।

किन्तु नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को विचार के स्तर पर नहीं लेकर अस्तित्व के स्तर पर लिया है। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद को इस स्तर पर लेकर सापेक्षता को अस्तित्वगत कहा जाता है तब अवश्य वस्तुओं की निस्स्वभावता उपपन्न होती है। किन्तु ऐसा दो स्तरों में व्यामिश्र हुए बिना संभव नहीं है। उदाहरणतः इस प्रतिज्ञप्ति को लें कि "रूप और विज्ञान का आश्रय कर चक्षु-विज्ञान की उत्पत्ति होती है।" अब इसके अस्तित्वविषयक प्रतिज्ञप्ति होने के लिए इसका इस प्रकार आमूल रूपान्तरण आवश्यक होगा : "यह चक्षुर्विज्ञान है, जो उस रूप और इस विज्ञान का (अथवा किसी रूप और किसी विज्ञान का) आश्रय कर

उत्पन्न हुआ है।" किन्तु इसमें चक्षुर्विज्ञान प्रस्तुत और मूलभूत है, रूप और विज्ञान अनुमेय हैं। इसलिए विशिष्ट वर्ण की अन्य प्रत्यय-सापेक्षता उसे उसके अस्तित्व में अपचित नहीं करती क्योंकि उत्पादक या अपेक्षित अन्य प्रत्यय न तो स्वयं में अस्तित्ववान होते हैं और न उनकी प्रत्ययता अस्तित्वगत होती है। इसलिए प्रस्तुत रूप की अन्य-सापेक्षता केवल अनुमेय और अपने अस्तित्वपूर्वक होती है। स्वयं नागार्जुन ही कहते हैं कि "प्रस्तुत न अपने प्रत्ययों की व्यस्तता में उपलब्ध होता है और न समस्तता में।" बिल्कुल ठीक, किन्तु इससे प्रस्तुत की अन्य-प्रत्ययसापेक्षता और निस्स्वभावता कैसे आपन्न होगी? वास्तव में भौतिक और चैत्त स्तर पर, जिन्हें हमने अस्तित्व का स्तर कहा है, घटित वस्तुएं विशिष्ट और परस्पर पृथक् होती हैं, इसलिए उनमें किसी भी प्रकार का समुत्पाद-सम्बन्ध और सापेक्षता-सम्बन्ध भी केवल कल्पित ही हो सकता है। इनमें कोई भी सम्बन्ध विचार द्वारा इनके आकलन के क्रम में उत्पन्न होता है। नागार्जुन इस प्रथम स्तर को, जिसे स्वलक्षण वस्तुओं का स्तर कहा जाता है, स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते। वास्तव में यह स्तर अपने शुद्ध रूप में हमें गम्य होता भी नहीं। गम्य केवल प्रतिविषयाध्यवसायात्मक विषय-जगत् ही होता है जिसमें वस्तुएं परस्पर सम्बद्ध होती हैं। किन्तु इसमें भी व्यष्टि-वस्तुएं किसी व्यवस्था में अशेषतः अपचेय नहीं कही जा सकतीं, जैसा कि हम पीछे भी देख आये हैं। वास्तव में जगत् को नाम-रूपात्मक कहने में भी जगत् की यही द्विविधिता, नाम में रूप की अनपचेयता, स्वीकृत है। अवश्य यहा कहा जा सकता है कि घटत्व के अतिरिक्त घट का कोई स्वरूप-स्वभाव नहीं होता। किन्तु जलाहरण कृत्य घट से ही सम्पन्न होता है, घटत्व से नहीं। कारण-कार्य या प्रतीत्यसमुत्पाद-व्यवस्था का आश्रय तो केवल मात्र यह रूपात्मक वस्तु-लोक ही है, चाहे स्वयं में इस व्यवस्था की अपेक्षा हो अथवा नहीं हो। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा कोई और व्यवस्था वस्तुजगत् की निस्स्वभावता प्रकट नहीं करती।

किन्तु यहां यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि हम नाम-वाच्यता को निस्स्वभावता का लक्षण नहीं मानते। अवश्य जलाहरण घट-व्यष्टि से ही सम्पन्न होता है, किन्तु उसी व्यष्टि से जो घटत्ववान् है। वास्तव में हमारे मत में रूप और नाम में से रूप सत्ता और स्वभाव की दृष्टि से निम्नतम स्तर है जबकि नाम उससे उच्चतर स्तर।[3] किन्तु एक और अर्थ में वस्तु-जगत् : नाम-रूप या प्रपंच : को निस्स्वभाव कहा जाता है और वह है इसकी आगन्तुकता। आगन्तुकता का अर्थ है प्रत्येक भाव में अभाव और अन्यथाभाव की संभावना : जो है वह नहीं भी हो

3. यह सिद्धांत हमारी पुस्तक सत्ताविषयक अन्वीक्षा के सम्पूर्ण प्रतिपादन के आधार में है।

सकता था और अन्यथा भी हो सकता था। किन्तु यहां एक प्रश्न हो सकता है कि वस्तुओं की व्यष्टिश: और जगत् की सामान्यतः इस आगन्तुकता का क्या स्रोत है? जो है और जैसा है उसके अभाव और अन्यथाभाव का प्रश्न कैसे उत्पन्न होता है? वास्तव का संभाव्य में यह रूपान्तरण विषय के विचार में और विषयात्मक विचार के विषय-पराङ्मुख विचार में अध्याहार से होता है। इस विद्यमान प्रस्तुत घट के नहीं हुए होने अथवा अन्यथारूपेण हुए होने की संभावना इस घट के अस्तित्व में नहीं स्वरूप में निहित है, जो स्वरूप, इसके अस्तित्व-सहित, शुद्ध विकल्पात्मक चित् का विषय है। जगत्-प्रपंचवादी इस विकल्प को ही वस्तु और ज्ञान के बीच बाधक मानते हैं। किन्तु इस विकल्प के बिना हमें जगत् की आगन्तुकता का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रस्तुत का अभाव और अन्यथाभाव प्रस्तुत के प्रत्यङ्मुख विकल्प को समर्पित होने में ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त वस्तु-लोक या रूपात्मक लोक भी अहंकारोपहित चित्त के इन्द्रिय-स्तरीय विकल्प का ही प्रत्याक्षेप है, अनुपहित वस्तु-लोक केवल निर्विकल्पक चित्त अथवा उसका विषय है।

किन्तु यह स्वीकार कर लेने पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं: प्रथम यह कि यह निर्विकल्पक चित्त विकल्पातिक्रमण से अधिगम्य है या कि मूल और आद्य विकल्प-शून्यता की स्थिति है? विकल्पातिक्रान्त निर्विकल्पकता विकल्प-गर्भ, प्रपंचोत्सर्जक चित्-स्थिति है जबकि मूल विकल्प-शून्यता की स्थिति अनात्मचेतन, विषयावगुंठित अस्फुट चैत्त स्थिति। वास्तव में निर्माण-काय की अवधारणा में विकल्पोत्सर्जक-विकल्पगर्भ निर्विकल्पकता की यह स्थिति पूर्वगृहीत है। आद्य निर्विकल्पकता की स्थिति चित्त के नितान्त निम्न स्तर पर अवस्थित जीवों में ही परिलक्षित होती है, ब्राह्म चित् इस प्रकार की अस्फुट-अनुद्भिन्न चैतसिकता वाला स्वीकार नहीं किया गया है: "ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते, पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" यह औपनिषद् मंत्र इस विकल्पगर्भ निर्विकल्पकता का ही संकीर्तन है। वास्तव में जगत् की आगन्तुकता भी सर्वविकल्प-विद् नितान्त स्वतंत्र जगत्कर्तृत्व की ही स्वीकृति है, क्योंकि कुछ तभी आगन्तुक हो सकता है यदि वह विभिन्न विकल्पों में से किसी एक का क्रियान्वयन हो। यदि वह अनेक संभावनाओं में से एक का क्रियान्वयन नहीं हो कर निर्विकल्पक तथात्व हो तब वह आगन्तुक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जगत् की आगन्तुकता जबकि इसकी अपनी न्यूनता और भावाभावरूपता की द्योतक है, यह चित् की असीम सम्पन्नता, सर्वविकल्पज्ञता और अबाध सर्जनात्मकता को प्रकट करती है। यह आगन्तुकता जगत् की भी निस्स्वभावता को प्रकट नहीं करती, क्योंकि यह संभाव्य विकल्पों में से एक का क्रियान्वयन है। यदि ये विकल्प निस्स्वभाव हों तो सभी विकल्प और विकल्पों का स्रोतभूत चित्त भी निस्स्वभाव हो। वास्तव में बुद्ध के

मौन को इसी असीम वाग्मिता और सम्पन्न विकल्पमयता के रूप में देखना चाहिए जिसे नागार्जुन ने रिक्त-शून्य प्रगल्भता में रूपान्तरित कर दिया। इस प्रकार नागार्जुन की शून्यता को अवाग्गोचर सर्वविकल्पज्ञता के युगपद् बोध से जन्य मौन के वाचक रूप में नहीं देखना चाहिए बल्कि नितान्त रिक्तता के रूप में ही देखना चाहिए।

□□

यशदेव शल्य का जन्म 1928 में फरीदकोट (पंजाब) में हुआ। आरंभिक अध्ययन एक गुरुकुल में आठ वर्ष तक करने के उपरांत घर पर स्वशिक्षा। 1949 में फरीदकोट माध्यमिक विद्यालय में हिन्दी अध्यापक के रूप में नियुक्ति। 1965 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में अनुवादक के रूप में नियुक्ति। 1969 से 1983 तक राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी में क्रमशः सहायक और उपनिदेशक पदों पर कार्य।

1949 से साहित्यालोचनात्मक लेखों का प्रकाशन आरंभ और 1951 में प्रथम पुस्तक **पन्त का काव्य और युग** का प्रकाशन। तब से अब तक सतत लेखन में लगे श्री शल्य की अन्य प्रकाशित पुस्तकें हैं **मनस्तत्व, दार्शनिक विश्लेषण, ज्ञान और सत्, संस्कृतिः मानव-कर्तव्य की व्याख्या, विषय और आत्म, मनुष्य और जगत्, सत्ताविषयक अन्वीक्षा और समाज-तत्व**। साथ ही श्री शल्य ने **अनुभववाद, समकालीन दार्शनिक समस्याएं, समकालीन पाश्चात्य दर्शन, नृतत्त्व और समाजदर्शन, दर्शन समीक्षा और तत्त्वचिन्तन** का सम्पादन किया। संप्रति 1985 से **उन्मीलन** का सम्पादन।

1954 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद की स्थापना में सहयोग और 1980 तक क्रमशः इसके मंत्री और अध्यक्ष के रूप में इस का संचालन। हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश द्वारा दार्शनिक विश्लेषण 1962 में डा० भगवानदास पुरस्कार से सम्मानित।